शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

अक्टूबर : १९५७ ☆ वर्ष तेरहवाँ, आसोज ☆ अंक : ६

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

कहाँ भवनाशक जैनधर्म!

और

कहाँ अनंत भव का संदेह ?

जैनधर्म, राग का रक्षक नहीं है किन्तु राग का नाश करके वीतरागता का उत्पादक है; भव का नाश करके मोक्ष देनेवाला है। अनादिकालीन मिथ्यात्वादि का नाश करके सम्यक्त्वादि अपूर्व भाव प्रगट हों, उसका नाम जैनधर्म है। भव का मंथन कर दे– भव का नाश कर दे, वही जैनधर्म है। अभी तो जो अनंत भव की शंका में पड़ा हो, अरे! भव्यपने में भी जिसे शंका हो—ऐसे जीव को तो जैनधर्म की गंध भी नहीं आई है। अहा! जैनधर्म क्या वस्तु है – उसकी बात भी लोगों ने यथार्थरूप से नहीं सुनी है। एक क्षण भी जैनधर्म प्रगट करे तो अनंत भव कट जायें और आत्मा में मोक्ष की छाप लग जाये, मुक्ति की निःशंकता हो जाये।—ऐसा जैनधर्म है; यही जैनधर्म की श्रेष्ठता है। इसलिये हे भव्य जीव! भव का नाश करने के लिये तू ऐसे जैनधर्म की भावना भा!

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१५०]

एक अंक
चार आना

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ सौराष्ट्र

— नया प्रकाशन —

मंगाने की शीघ्रता करें।

ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
सम्यग्दर्शन—दूसरी आवृत्ति	१ ॥=)
भेदज्ञानसार	२)
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें प्रथम भाग	१=)
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें दूसरा भाग	२)
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला भाग १—२	॥-) ॥-)
श्री लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका (तीसरी-आवृत्ति)	=)
जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह	१ ।=)
शासन प्रभाव	=)

पोस्टेज अलग

पता:—जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

भव के अंत की भनक

हे भाई! इस भव-भ्रमण से आत्मा का छुटकारा कैसे हो? - उसका उपाय सत्समागम से कर।

सत्समागम से चिदानन्दस्वभाव का अंतर के उल्लासपूर्वक श्रवण करके उसकी प्रतीति करते ही तेरे आत्मा में भव के अंत की भनक उठेगी।

आत्मधर्म

अक्टूबर : १९५७ ☆ वर्ष तेरहवाँ, आसोज ☆ अंक ६

जिनशासन की महिमा

[६]

[श्री अष्टप्राभृत गाथा ८३ के मुख्य प्रवचन]

एक क्षण भी जैनधर्म को अंगीकार करे तो अल्पकाल में अवश्य मुक्ति प्राप्त हो—ऐसी जैनधर्म की महिमा है।

राग से पार होकर ज्ञान के अपूर्व अंतर् उद्यम द्वारा ही जैनधर्म का निर्णय होता है।

जिसके अंतर में राग की किंचित् भी मिठास है, वह जीव वीतरागी जैनधर्म का निर्णय नहीं कर सकता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव द्वारा जो मोह-राग-द्वेषरूप शत्रुओं को जीत ले, वही जैन है।

धर्म उसे कहते हैं जिससे भव के नाश की नि:शंकता हो जाये और भव का भय दूर हो जाये। जहाँ भव के नाश की नि:शंकता नहीं है, वहाँ धर्म हुआ ही नहीं। पुण्य में ऐसी शक्ति नहीं है कि भव का नाश कराये... या नि:शंकता दे।

जो हित करना चाहता है, उसे यह समझाते हैं—

राग से पार चैतन्यमूर्ति आत्मा का अनुभव-श्रद्धा-ज्ञान होने के पश्चात् भी धर्मात्मा को जिनेन्द्र भगवान की पूजा-भक्ति का तथा व्रत, स्वाध्यायादि का शुभराग आता है। जिन्हें अभी वीतरागी देव-गुरु-धर्म के प्रति पूजा-भक्ति बहुमान का शुभभाव भी नहीं है और मात्र पापभाव में

ही डूबे हैं, उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है; क्योंकि उन्हें न तो आत्मा के हित की दरकार ही है और न ऐसा उपदेश सुनने का वे अवकाश निकालते हैं। यहाँ तो, जिन्हें आत्मा का हित करने की भावना जागृत हुई है, वीतरागी देव-गुरु-धर्म की ओर भक्ति-बहुमानपूर्वक की वृत्ति है, उन्हें धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाते हैं। जो समझकर अपना हित करना चाहते हैं, उन्हें समझाते हैं।

धर्मी को शुभराग होता है, वह भी धर्म नहीं है

देवपूजा, गुरुसेवा, शास्त्रस्वाध्यायादि गृहस्थों के छह कार्य कहे हैं। सम्यक्त्वी धर्मात्मा को उन कार्यों के करने का भाव आता है; उसमें जो शुभराग है, वह पुण्य है; जिनशासन में उस राग को धर्म नहीं कहा। उस राग के समय धर्मी को अरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो शुद्धभाव है, वही धर्म है-वही मोक्ष का साधक है; तथा जो राग है, वह तो बाधकभाव है—दोष है। धर्मी स्वयं उसे धर्मरूप नहीं मानते। जो राग को धर्म मानता है, उसके तो श्रद्धा-ज्ञान भी मिथ्या हैं, इसलिये उसे तो एकान्त अधर्म है; धर्म क्या वस्तु है - उसकी उसे खबर ही नहीं है। जहाँ सम्यग्दृष्टि के शुभराग को भी पुण्यबंध का कारण कहा है, वहाँ मिथ्यादृष्टि की तो बात ही क्या!! सम्यग्दृष्टि को भी शुभराग, धर्म का कारण नहीं है, तो फिर वह मिथ्यादृष्टि को धर्म का साधन कैसे हो सकता है? दया-दानादि के शुभपरिणाम से मिथ्यादृष्टि को परित संसार हो जाता है—ऐसा उपदेश जिनशासन का नहीं है किन्तु मिथ्यादृष्टि का है। उपासक-अध्ययन में श्रावकों के आचार के वर्णन में व्रतों का तथा जिनदेव की भक्ति-पूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, दानादि का जो वर्णन है, वह सब शुभराग भी पुण्य है, वह धर्म नहीं है। धर्म तो अंतरस्वभाव में से प्रगट हुआ मोह-क्षोभ रहित शुद्धभाव ही है।

—ऐसा है जिनशासन!

देखो, यह जिनशासन!! चिदानन्दस्वभाव के अंतरअनुभव से सम्यग्दर्शन होते ही अनादिकालीन दर्शनमोह का तथा अनंतानुबन्धी कषायरूप क्षोभ का नाश हुआ, वहाँ जिनशासन का प्रारम्भ हुआ। मोह तथा क्षोभ के अभावरूप जो सम्यग्दर्शनादि शुद्धपरिणति हुई, उसका नाम धर्म है।—ऐसे शुद्धभाव द्वारा जिनशासन को पहिचानना चाहिये... जहाँ सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव है, वहीं जिनशासन है।

लौकिकजन तथा अन्यमती ही पुण्य को धर्म मानते हैं, जिनमती नहीं

इस गाथा के भावार्थ में आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले पं० जयचन्द्रजी लिखते हैं कि—'लौकिकजन तथा अन्यमति कोई कहे हैं जो-पूजा आदिक शुभक्रिया तिनि विषैं अर

व्रतक्रिया सहित है, सो जिनधर्म है;—सो ऐसैं नांही है। जिनमत में जिन भगवान ने ऐसैं कह्या है जो पूजादिक विषै अर व्रतसहित होय सो तो पुण्य है...' पूजाव्रतादि का शुभराग वह पुण्य है; लौकिकजन तथा अन्यमति ही उसे धर्म मानते हैं, किन्तु जिनशासन में तो उसे धर्म नहीं कहा।

जीवदया का राग, वह जैनधर्म नहीं, किन्तु पुण्य है

लौकिकजन तथा अन्यमती ऐसा मानते हैं कि जैनधर्म में हरियाली आदि की दया पालने को कहा है; इसलिये जैनधर्म की श्रेष्ठता है;—किन्तु वह कहीं जैनधर्म का सच्चा स्वरूप नहीं है। अहिंसादि व्रत में परजीव की दया का शुभभाव अथवा भगवान की पूजादि का शुभभाव—उसी के द्वारा बाह्यदृष्टि लोग जैनधर्म को पहिचानते हैं, किन्तु वह वास्तव में जैनधर्म नहीं है; वह तो पुण्य है—बंधन है।

किसी भी परजीव को न मारने के लिये कहा है, वह जिनशासन की महत्ता है—ऐसा मिथ्यादृष्टि मानते हैं। परजीव की दया पालने का शुभराग, वह धर्म है—ऐसा जो मानते हैं, वे मिथ्यात्व के पोषक हैं; क्योंकि राग वह जैनधर्म नहीं है, जैनधर्म तो वीतरागभाव है।

जिनशासन का अहिंसाधर्म

लोग कहते हैं कि—'भाई! जगत में जैनियों की अहिंसा बहुत ऊँची है! जैनधर्म तो अहिंसावादी है।'—यह सच है; किन्तु अहिंसा के स्वरूप की उन्हें खबर नहीं है। जिनशासन में अहिंसा का स्वरूप तो इसप्रकार कहा है—राग-द्वेष-मोहरूप भावों द्वारा जीव के चैतन्य प्राण का घात होता है, इसलिये वे राग-द्वेष-मोहरूपभाव ही हिंसा हैं, और उन राग-द्वेष-मोहरूप हिंसक भावों की उत्पत्ति ही न होना, उसका नाम अहिंसा धर्म है। ऐसा अहिंसा धर्म कब होता है?—कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव प्रगट होने पर राग-द्वेष-मोह भावों की उत्पत्ति रुकती है, इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो वीतरागी शुद्धभाव है, वही जिनशासन का अहिंसाधर्म है और ऐसी यथार्थ अहिंसा जिनशासन में ही है; इसलिये जिनशासन की श्रेष्ठता है। परजीव की दया का शुभराग, वह कहीं अहिंसाधर्म नहीं है; मात्र परदया के शुभराग को जो अहिंसा धर्म मानता है, वह जिनशासन को नहीं जानता, वह लौकिकजन अर्थात् मिथ्यादृष्टि है—ऐसा जानना।

अहो जैनधर्म! तेरी महिमा!

अहो, जैनधर्म तो वीतरागी है, ऐसे धर्म के निर्णय में उग्र पुरुषार्थ चाहिये, उग्र ज्ञान चाहिये। राग से पार होकर ज्ञान के अपूर्व अंतर उद्यम द्वारा ही ऐसे जैनधर्म का निर्णय होता है। एक क्षण भी

जैनधर्म को अंगीकार करे तो अल्पकाल में अवश्य मुक्ति प्राप्त कर ले;—ऐसी जैनधर्म की महिमा है। उसके लिये आत्मा के स्वभाव की आकांक्षा तथा रुचि की तल्लीनता आवश्यक है। जिसके अंतर में राग की किंचित् भी मिठास है, वह जीव वीतरागी जैनधर्म का निर्णय नहीं कर सकता। आँख में किरकिरी तो कदाचित् समा सकती है, किन्तु धर्म में राग का अंश भी नहीं समा सकता। धर्म में राग नहीं और राग में धर्म नहीं—दोनों वस्तुएँ पृथक् हैं। धर्म की भूमिका में राग भी साथ होता है, किन्तु जो राग है, वह स्वयं धर्म नहीं है।

जिनशासन के सिवा अन्य किसी मत में तो धर्म है ही नहीं; वे सब तो धर्म से विपरीत हैं। उनकी बात तो दूर रही, परन्तु जिनशासन में भी पुण्य के भाव को भगवान ने धर्म नहीं कहा है। जिनशासन में कहे हुए व्यवहारानुसार भगवान की पूजा-व्रतादि शुभराग करता है और उस राग से ही अपने को धर्मीपना मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है; उसे जिनशासन के सच्चे स्वरूप की खबर नहीं है।

तो धर्म क्या है ?

जैनधर्म तो शुद्ध आत्मपरिणाम द्वारा रागादिक को जीतनेवाला है, अर्थात् जैनधर्म तो राग का नाशक है-पोषक नहीं है। यदि राग को धर्म कहें तो, जैनधर्म राग का नाशक कहाँ रहा? जैनधर्म को राग का नाशक कहना और फिर शुभराग को धर्म कहना—यह दो बातें एक-दूसरे से विरुद्ध हैं; जैनधर्म तो राग के एक अंशमात्र का भी पोषक नहीं है। पहले तो शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि द्वारा श्रद्धा में राग का अभाव करे और फिर उस चैतन्य परिणति द्वारा राग को जीते, वह जैनधर्म है। किन्तु जो राग द्वारा स्वयं पराजित हो जाये अर्थात् राग रखकर उस राग द्वारा धर्म मनाये तो वह जैन नहीं है; वह तो राग का पोषक है। वीतरागी रत्नत्रय द्वारा राग-द्वेष-मोह को जीतकर ज्ञानानन्द -स्वरूप में रहे, वह जैन है।

'जो जीते वह जैन'—अर्थात् क्या? जीतनेवाला तो आत्मा है। जिन्हें जीतना है, वे राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धभाव हैं। उन्हें किसप्रकार जीता जा सकता है?

—कि आत्मा के शुद्धस्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर उसमें लीन होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव प्रगट होता है और अनादिकालीन राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध भावों का नाश हो जाता है।

इसप्रकार शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव द्वारा राग-

द्वेष-मोहभाव को जीते, वही जैन है; उसी को जिनशासन में धर्म कहा है।—इसके सिवा राग का एक अंश भी रहे, उसे भगवान ने धर्म नहीं कहा।

सर्व प्रथम पर से भिन्न तथा अपने ज्ञानानन्दस्वभाव से एकरूप ऐसे शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने से अनादिकालीन मिथ्यात्वरूप मोह का तथा अनंतानुबंधी राग-द्वेष का नाश हो जाता है; और तभी से आत्मा में जैनधर्म का प्रारम्भ होता है।

धर्म तो मोह-क्षोभरहित ऐसे शुद्ध परिणाम हैं; आत्मा के शुद्धपरिणामों के अतिरिक्त बाह्य में अन्यत्र कहीं धर्म नहीं है और न दूसरा कोई मोक्ष का कारण है। मोक्ष-क्षोभरहित अर्थात् मिथ्यात्व एवं अस्थिरता से रहित जीव के परिणाम, वह धर्म है; अर्थात् समयग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव, वह धर्म है।

संतों के कथन में जहाँ देखो वहाँ एक ही धारा है। प्रवचनसार की ७ वीं गाथा में भी कहा है कि—चारित्र, वह धर्म है; धर्म, वह साम्य है, और साम्य, वह जीव के मोह-क्षोभरहित परिणाम हैं। यहाँ भी कहते हैं कि जीव के मोह-क्षोभरहित परिणाम, वह धर्म है। बीच में राग हो, वह धर्म नहीं है।

एक 'पापपरिणामी' अधर्मी, और दूसरे 'पुण्यपरिणामी' अधर्मी

जिसप्रकार हिंसादिकभाव, वह पाप है—धर्म नहीं है; उसीप्रकार अहिंसादिक शुभभाव, वह पुण्य है—धर्म नहीं है। जो तीव्र हिंसा, विषय-कषाय, कुदेव-कुगुरु का सेवन आदि पापभावों में ही लीन हैं, वे तो 'पापी-अधर्मी' हैं, और जो अहिंसा-व्रत-पूजादि शुभभावों को धर्म मानकर उन्हीं में लीनरूप वर्तते हैं, वे 'पुण्य-परिणामी-अधर्मी' हैं। दोनों अधर्मी हैं;—एक पाप परिणामी में डूबे हुए और दूसरे पुण्य परिणामों में अटके हुए। जो जीव, पुण्य-पाप रहित आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा करता है—प्रतीति करता है—अनुभव करता है, वही धर्मात्मा है, और वही पार होता है।

धर्म उसे कहते हैं, जिससे भव का अंत आये

धर्म उसे कहते हैं, जिससे भव के नाश की नि:शंकता हो जाये... और भव-भय दूर हो जाये। जहाँ भव के नाश की नि:शंकता नहीं है, वहाँ धर्म हुआ ही नहीं। वह नि:शंकता कौन देता है ? आत्मा के भव-रहित चैतन्यस्वभाव को समझ ले तो भव के नाश की नि:शंकता अपने आत्मा में से ही प्रगट हो। इसके अतिरिक्त पुण्य में ऐसी शक्ति नहीं है कि भव का नाश कराये... अथवा नि:शंकता दे।

अभी तो, जो आत्मा को नहीं मानते, जिन्हें पाप का भय नहीं है, परलोक की श्रद्धा नहीं है और मात्र पाप में ही डूब रहे हैं—वे तो पापिष्ठ हैं, ऐसे जीवों की तो बात ही क्या? किन्तु जो कुछ आस्थावान हैं—आत्मा को मानते हैं—परलोक को मानते हैं तथा पाप से डरकर पुण्य में धर्म मानकर वहीं रुक गये हैं और रागरहित शुद्ध आत्मा की प्रतीति नहीं करते, वे भी मिथ्यादृष्टि अधर्मी ही हैं; वे भी चार गति के भ्रमण से नहीं छूटते। यहाँ तो अपूर्व धर्म की बात है कि जिससे भव का अंत आये और मुक्ति हो।

जैनं जयति शासनम्!

भवभ्रमण से छूटने के लिये

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को प्राप्त करने का उपदेश

[प्रवचनसार-परिशिष्ट पर वैशाख शुक्ला १०-१४ के प्रवचनों से]

श्रीगुरु ने जो कहा, उसकी शिष्य को धुन लगी है; निरन्तर उसके लिये झूर रहा है; दिन-रात बारम्बार उसका चिंतवन करता है; आत्मा को प्राप्त करने की लगन लग गई है; उसी की चाहना है.... और वह अवश्य आत्मा को प्राप्त करता है।

आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति कैसे हो - वह बात चल रही है। अनादिकाल से जीव अपने स्वरूप की प्राप्ति के बिना संसार-भ्रमण कर रहा है। आत्मस्वभाव के साथ एकता न करके संयोग के साथ एकता के कारण मोहभावना से आत्मा की परिणति पुण्य-पाप में चक्कर खा रही है; इसलिये वह अपनी पर्याय में क्षुब्ध होता है और उसे आत्मा की प्राप्ति दूर है।—इसप्रकार यह बतलाया कि अनादिकाल से आत्मा की प्राप्ति क्यों नहीं हुई।

आत्मा तो ज्ञानस्वभाव है; उस ज्ञानस्वभाव के साथ ही उसकी एकता है; उसके बदले परज्ञेयों के साथ मित्रता करता है अर्थात् उनके साथ ज्ञान की एकता करता है, वही अनादिकाल से संसारभ्रमण का कारण है। अज्ञानी को पर से भिन्न अपना ज्ञान तो भासित नहीं होता और ज्ञान के ज्ञेयभूत परपदार्थ ही भासित होते हैं, इसलिये वह बहिर्मुखरूप से परज्ञेयों में ही वर्तता है। भिन्न-भिन्न ज्ञेयों को जानने पर भी मैं तो एकाकार ज्ञान ही हूँ, ज्ञान के साथ ही मेरी एकता है—ऐसी ज्ञानस्वभाव की भावना द्वारा आत्मा की प्राप्ति होती है। किन्तु ज्ञान, वह मैं—ऐसी भावना न भाकर जो परज्ञेयों को जानता है, वह ज्ञेयों के साथ ही एकत्वबुद्धि से उनकी भावना भाता है, इसलिये उसकी दृष्टि परोन्मुखता से नहीं छूटती; पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर स्वज्ञेयोन्मुख नहीं होता—यही संसार है। जिसे अपना मानता है, उसके साथ का सम्बन्ध कैसे छोड़ेगा? अज्ञानी परज्ञेय को अपना मानता है और उससे लाभ मानता है, इसलिये पृथक् होकर स्व में नहीं आता; इसी कारण उसे आत्मा की प्राप्ति नहीं होती; आत्मा के आनन्दस्वरूप का अनुभव नहीं होता।

अब, यही आत्मा जब ऐसा जानता है कि मैं तो समस्त परज्ञेयों से अत्यन्त भिन्न हूँ, मोह से भिन्न ज्ञानस्वरूप हूँ;—इसप्रकार समस्त परज्ञेयों से आत्मा को भिन्न जानकर, केवल आत्मा की भावना में एकाग्र हो और उसी में स्थिर रहे, तब पर से अत्यन्त भिन्न होकर अपने ज्ञानानन्दस्वरूप का अनुभव होता है। इसप्रकार अन्तर्मुख एकाग्रता द्वारा आत्मा की प्राप्ति होती है।

भगवान! तेरा आत्मा ज्ञानस्वरूप है। पर के कारण तेरे ज्ञान का अस्तित्व नहीं है। जो पर के कारण ज्ञान या शांति होना माने, वह पर के साथ ज्ञान की मित्रता (एकता) करता है, आत्मा के साथ एकता नहीं करता, इसलिये उसे आत्मा के विवेक का अभाव है। मेरा ज्ञान और मेरा आनंद तो मुझमें हैं, पर से मेरा बिल्कुल भिन्नत्व है—ऐसा विवेक करके अंतर्मुख होकर एकाग्र होने से आत्मा की प्राप्ति होती है। आचार्यदेव आदेश देते हैं कि अपने ज्ञानान्दस्वरूप आत्मा को प्राप्त करो।

अपने चैतन्यगृह को छोड़कर अनादि से परज्ञेयों को अपना मानकर उसमें वास किया है,—पर में वास करके संसार में भटक रहा है; उसे आचार्यदेव आत्मा का स्वरूप बतलाकर उसके चैतन्यगृह में निवास कराते हैं। अन्तर्मुख होकर चैतन्य की भावना में रहना, सो निवास है; अनादिकाल से जीव ने अपने घर में निवास नहीं किया। चैतन्यस्वभाव को जानकर अपने स्वगृह में एकबार भी निवास करे, (उसमें एकाग्र होकर रहे) तो परम आनन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति हो। इसप्रकार आत्मा में निवास किया सो किया, अब सादि-अनंतकाल तक वह अपने आनन्दस्वरूप में ही वास करता रहेगा।

बहिर्मुख होकर परज्ञेयों में मैत्री से जो राग-द्वेषरूप परिणमित होता है, उसे आत्मप्राप्ति दूर है और जो अंतर्मुख होकर ज्ञानस्वरूप में एकता करके राग-द्वेषरहित परिणमन करता है, वह ज्ञानानन्दस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसप्रकार तुम अंतर्मुख होकर आत्मभावना से ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को प्राप्त करो—ऐसा आचार्य भगवान का उपदेश है।

जो जीव आत्मप्राप्ति का जिज्ञासु होकर श्रीगुरु के निकट आया है और सत्समागम से सत्य का श्रवण करता है, उस श्रवण के विकल्प को क्रियाकांड कहते हैं और उस क्रियाकांड द्वारा ज्ञानकांड की प्राप्ति होती है—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। 'तेरा आत्मा अखंड ज्ञानमूर्ति है, उसमें अंतर्मुख हो'—ऐसा सत्समागम से श्रवण करने पर उस ओर का उल्लास आता है; उस भाव को यहाँ क्रियाकांड कहा है;—इसप्रकार सत्समागम करते-करते अन्तरोन्मुख हो, तब ज्ञानकांड प्रचंड हुआ—ऐसा कहते हैं। और इसप्रकार अन्तरोन्मुख होकर जो ज्ञानकांड को प्राप्त करता है, उसे पूर्व के सत्समागम का विकल्प निमित्त होने से उस विकल्परूप क्रियाकांड द्वारा ज्ञानकांड की प्राप्ति हुई—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

जिसे आत्म-प्राप्ति की जिज्ञासा जागृत हुई, उसे सच्चे ज्ञानी गुरु की ओर का भाव आये बिना नहीं रहता; क्योंकि ज्ञान की प्राप्ति में ज्ञानी का ही निमित्त होता है—ऐसा नियम है।

बुझी चहत जो प्यास को, है बुझन की रीत;
पावै नहिं गुरुगम बिना, ये ही अनादि स्थित।

(श्रीमद् राजचन्द्र)

जिसे आत्मा की अभिलाषा जागृत हुई है—प्यास लगी है—तो उसे बुझाने की रीति है; किन्तु वह रीति ज्ञानीगुरु की देशना बिना प्राप्त नहीं होती; एकबार ज्ञानी की सीधी देशना मिलना ही चाहिये—यही अनादिकालीन नियम है। ज्ञान की प्राप्ति करनेवाले को महान सत्समागम-बारम्बार ज्ञानी का समागम-निमित्तरूप से होता है; उसका नाम प्रचंड कर्मकांड है।—इसप्रकार सत्समागम से बारम्बार श्रवण-मनन कर-करके आत्मा के ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करता है और उस स्वभाव की भावना करके उसमें एकाग्र होकर उसका अनुभव करता है। यह ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्राप्ति का उपाय है। इस उपाय से तुम ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को अवश्य प्राप्त करो... ऐसा आचार्य भगवान का उपदेश है।

❀ ❀ ❀

जिसे आत्मा का हित करना हो, उसे क्या करना चाहिये—यह बात चल रही है। सत्समागम से बारम्बार आत्मा के ज्ञानस्वभाव का श्रवण करके प्रचंडरूप से—बारम्बार उसके निर्णय का उद्यम करना चाहिये।

विकल्पसहित बारम्बार निर्णय का अभ्यास करता है, उसे प्रचंड क्रियाकांड कहा जाता है। उस निर्णय का प्रचंड उद्यम कर-करके ज्ञान, स्वभावोन्मुख होता है।—इसप्रकार ज्ञानकांड की उग्रता द्वारा मोहादि से भेदज्ञान करके आत्मा को उससे विभक्त करता है और उस विभक्त आत्मा की भावना के प्रभाव द्वारा परिणति को अंतर स्वरूप में एकाग्र करता है;—इस प्रकार अत्यन्त अंतर्मुख होकर ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को प्राप्त करता है। यह आत्मा प्राप्ति का उपाय है।

सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि—'तेरा आनन्द तुझमें हैं,'—ऐसी जब प्रतीति की, तब सर्वज्ञदेव की श्रद्धा हुई।

ज्ञानी गुरु भी ऐसा कहते हैं कि 'तेरा आनन्द तुझमें ही है, उसमें अन्तर्मुख हो;'—ऐसी जब प्रतीति की, तब गुरु की श्रद्धा हुई।

शास्त्र भी ऐसा कहते हैं कि—'तेरे आत्मा में ही तेरा आनन्द है;'—ऐसी जब प्रतीति की, तब शास्त्रों की प्रतीति हुई।

अहो! मेरा आनन्द मुझमें है, मेरे आत्मा में सर्वज्ञपद की शक्ति विद्यमान है।—ऐसा बहुमान लाकर देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा की, वह व्यवहार है।—इसप्रकार सत्समागम से अत्यन्त बहुमानपूर्वक निरंतर प्रयत्न करके आत्मा का अनुभव करता है। समयसार में भी ३८ वीं गाथा में कहते हैं कि—'जो अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तपने के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त गुरु द्वारा निरन्तर समझाये जाने पर, जो किसी प्रकार समझकर, सावधान होकर, अपने परमेश्वर आत्मा को जानकर.... सम्यक् प्रकार से एक आतमराम हुआ....'

गुरु कहीं चौबीसों घंटे उपदेश तो नहीं देते, तथापि 'विरक्त गुरु के द्वारा निरंतर समझाये जाने पर'—ऐसा कहा, वह शिष्य की तैयारी बतलाता है। श्रीगुरु ने शिष्य से जो कहा, उसकी धुन लगी है, निरन्तर उसकी लालसा है; दिन-रात बारम्बार उसका चिंतवन करता है, आत्मा को प्राप्त करने की लगन लग गयी है, उसी की कामना है, इसलिये कहते हैं कि श्रीगुरु द्वारा उसे निरंतर समझाया जाता है। बारम्बार उसे यही मंथन चलता है; अंतर में चैतन्स्वभाव को पकड़ना चाहता है। वहाँ पहले बहुमान का विकल्प है, इसलिये उपचार से ऐसा कहा है कि वह विकल्परूप क्रिया

द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है; किन्तु वास्तव में तो विकल्प को छोड़कर उससे पार ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होता है, तभी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करता है।

अहा! मेरा आत्मा आनन्दमूर्ति है—ऐसा श्रीगुरु कहते हैं। इसप्रकार जब तक परोन्मुख वृत्ति रहे, तब तक भी विकल्प है, जब अन्तरोन्मुख होकर स्वसंवेदन करे, तब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। उसमें श्रीगुरु की देशना और उस ओर के बहुमान का भाव, वह निमित्तरूप है; उसे यहाँ क्रियाकांड कहा है। किन्तु उस विकल्प में ही रुका रहे तो कहीं उस क्रियाकांड द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। पहले आत्मा की ओर का विकल्प था, उसे तोड़कर अंतर में चैतन्यस्वभाव को ग्रहण करके मात्र आत्मभावना से सम्यग्ज्ञान हुआ, वहाँ पूर्व के विकल्प को क्रियाकांड मानकर उसके द्वारा ज्ञान होना कहा है। परिणति को अंतर में एकाग्र किया, तब सम्यग्ज्ञान हुआ और आनन्दमय आत्मा की प्राप्ति हुई।

❀ ❀ ❀

मैं जो आनन्द ढूँढ़ता था, वह आनन्द मेरे अंतरस्वरूप में ही है—ऐसी प्रतीति करके, जो ज्ञान अंतर में एकाग्र हुआ, वह ज्ञान प्रतिष्ठित है, स्थिर है। और इसप्रकार जिसका ज्ञान स्थिर हुआ है, वह जीव राग-द्वेषादिरूप परिणमित नहीं होता। इसप्रकार आत्मस्वभाव का अवलंबन कर-करके अनंत जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है। जिस प्रकार बाह्य में सम्मेदशिखरजी क्षेत्र से अनंत तीर्थंक-संत मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, उसी प्रकार अंतर में उन सब जीवों ने चैतन्य के शिखररूप इस आत्मस्वभाव के आधार से मुक्ति प्राप्त की है। इस चैतन्य के सम्मेदशिखर पर आरूढ़ होना ही मोक्ष की यात्रा है।

अंतर्मुख एकाग्र होकर अपने ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को प्राप्त करके आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! जगत् भी ऐसे ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को आज ही प्राप्त करे! मैं ज्ञानानंदस्वरूप हूँ—ऐसी श्रद्धा तो अवश्य करे। आत्मा के परमानंद के भोज का सपरिवार आमंत्रण दिया है। जगत के समस्त जीव आत्मा के आनन्द को आज ही प्राप्त करें। आत्मा की प्राप्ति का हमने जो उपाय कहा है, उससे ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा की अवश्य प्राप्ति होती है; इसलिये इस रीति से जगत आज ही ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को प्राप्त करे—ऐसा आचार्यदेव का आमंत्रण, आदेश और उपदेश है।

ज्ञानानंद से परिपूर्ण स्वतत्त्व ही इष्ट है; ज्ञान और आनन्द में डूबा हुआ ऐसा यह स्वतत्त्व ही इष्ट है। अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान जिसमें उल्लसित हो रहे हैं—ऐसा यह स्वतत्त्व ही इष्ट है।

स्यात्कार लक्षणवाला जिनशासन ऐसे आनन्दमय स्वतत्त्व को बतलाता है। हे जगत के जीवो! स्यात्कार लक्षण जिनशासन के वश ऐसे ज्ञान-आनन्द से उल्लसित स्वतत्त्व को तुम देखो; अंतर्मुख होकर आज ही उसकी प्राप्ति करो।

केवलज्ञानरूपी सरिता आनन्दामृत से भरपूर है, और उसमें यह स्वतत्त्व डूबा हुआ है—लीन है। जागत को देखने में समर्थ ऐसे महा संवेदनरूपी ज्ञानलक्ष्मी उसमें मुख्य हैं, उत्तम रत्न की किरण समान वह स्पष्ट प्रकाशमान है और परम इष्ट है;—ऐसा स्वतत्त्व उल्लसित हो रहा है, उसे जिनशासन के आश्रय से, हे जीवो! तुम प्राप्त करो!—ऐसी आचार्यदेव की प्रेरणा है।

आत्मस्वरूप की कहानी

हे जीव! संत तुझे तेरा आत्मिक सुख प्राप्त होने की कहानी सुनाते हैं... तू उमंग लाकर उसका श्रवण कर!

जीव अनंत काल में आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं समझा और वास्तविक लक्ष से उसका श्रवण भी पहले कभी नहीं किया। यदि एक बार भी पर से भिन्न शुद्ध आत्मा की कहानी यथार्थ लक्षपूर्वक ज्ञानी से सुन ले तो आत्मा की पहिचान होकर सम्यग्दर्शन और मोक्ष हुए बिना न रहे। (इसमें 'यथार्थ लक्ष', वह उपादान है और 'ज्ञानी के पास से श्रवण' वह निमित्त है।)

* आत्मा का स्वभाव क्या है—उसके ज्ञान बिना त्यागी होकर व्रत-तप अनंत बार किये और स्वर्ग में भी अनंत बार गया, किन्तु राग से पार चैतन्यतत्त्व के लक्ष बिना लेशमात्र सुख प्राप्त नहीं किया। मंदराग में धर्म मानकर परसन्मुख ही रुक गया, किन्तु राग से पार जो चैतन्यस्वरूप है, उसमें स्वोन्मुखता नहीं की, इसलिये किंचित् धर्म नहीं हुआ और न भवभ्रमण मिटा।

* अनादि काल से भवभ्रमण करके आत्मा दु:खी हो रहा है; वह भवभ्रमण कैसे दूर हो और आत्मा को सुख कैसे हो, उसका उपाय यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं।

* भाई! तेरा सुख तेरे आत्मा में है। जहाँ सुख की सत्ता है, उस ओर देख तो सुख प्रगट हो;

बाह्य में देखने से या राग की ओर देखने से अनंत काल में भी सुख प्रगट नहीं हो सकता। बाह्य लक्ष से—देव-शास्त्र-गुरु के लक्ष से—अनंत बार राग की मंदता की, किन्तु अन्तर्लक्ष कभी नहीं किया। पर से तथा राग से भिन्न मैं तो ज्ञानमूर्ति हूँ—ऐसे आत्मा के लक्ष से ही सम्यग्दर्शनादि धर्म होता है और वही भवभ्रमण के दुःख से छूटने का उपाय है।

✻ जिसे आत्मा की शांति चाहिये हो, आत्मा का हित करना हो, उसे प्रेमपूर्वक यह बात सुनने योग्य है। जिस प्रकार कोई रंक व्यक्ति, लक्ष्मी प्राप्त करना चाहता हो और कोई पुरुष उसे पाँच लाख रुपये मिलने का उपाय बतलाये तो वह कितनी रुचिपूर्वक लक्ष रखकर सुनता है! उसी प्रकार जिसे भवभ्रमण के दुःख की थकान लगी है और उससे छूटकर आत्मा का सुख प्राप्त करना चाहता है—ऐसे जीव को आचार्यदेव सुख का उपाय बतलाते हैं, चैतन्य के निधान बतलाते हैं। अन्य समस्त लक्ष छोड़कर जिज्ञासु जीव एक आत्मा के लक्ष से अपूर्व रुचिपूर्वक यह बात स्वीकार करता है कि—अहो! यह मुझे अपने आत्मा का सुख मिलने की बात है!—इसप्रकार उल्लास लाकर समझना चाहे तो अवश्य यह बात समझ में आ सकती है।

✻ सम्यक्त्वी धर्मात्मा अंतर की चैतन्यऋद्धि को ही अपनी लक्ष्मी मानता है; चैतन्य के अतिरिक्त जगत् में कहीं वह अपना सुख नहीं मानता; वह भगवान का दास है.. और... जगत से उदास है। ऐसे सम्यक्त्वी धर्मात्मा ही चैतन्यस्वभाव के लक्षरूप लक्ष्मी से ही सदैव सुखी हैं। आत्मा के लक्ष बिना कभी सुख नहीं होता।

✻ प्रत्येक आत्मा में अनंत धर्म हैं, वे धर्म अपने से ही हैं; पर के कारण आत्मा का एक भी धर्म नहीं है। त्रिकाल शुद्धस्वभाव, वह अपने द्रव्य का धर्म है, और क्षणिक अशुद्धता भी अपनी पर्याय का धर्म है; वह किसी पर के कारण नहीं है। अशुद्धता, क्षणिक पर्याय का धर्म होने से वह दूर हो सकती है; शुद्ध द्रव्य के साथ एकता करने से पर्याय की अशुद्धता दूर हो जाती है। पर के कारण आत्मा की शुद्धता या अशुद्धता माने तो उसने आत्मा को पर से भिन्न नहीं जाना; इसलिये वह बाह्य ज्ञेयों में ही अपनत्व मानकर राग-द्वेष-मोह से दुःखी होता है, किन्तु पर से भिन्न आत्मस्वरूप की भावना उसे नहीं होती। ज्ञानी तो पर से भिन्न अपने धर्मों द्वारा अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर उसमें अंतर्मुख होकर उसी की भावना करते हैं और इसप्रकार आत्मभावना द्वारा, वे पूर्वकाल में कभी जिसका अनुभव नहीं किया—ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का अनुभव करते हैं। यही भवभ्रमण के दुःख से छूटकर आनन्द की प्राप्ति का उपाय है। *[– पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन से]*

श्री जैनदर्शन शिक्षणवर्ग-सोनगढ़

प्रथम श्रेणी की परीक्षा में पूछे गये प्रश्न और उनके उत्तर

(छहढाला तथा जैनसिद्धान्त प्रवेशिका)

प्रश्न (१)—आत्मा के भेद और प्रत्येक के प्रभेदों का स्वरूप स्पष्टता पूर्वक लिखो।

उत्तर १—आत्मा के तीन भेद हैं— १-बहिरात्मा, २-अंतरात्मा, और ३-परमात्मा।

१—जो शरीर को ही आत्मा मानता है और शरीर की क्रिया को अपना मानता है, वह बहिरात्मा है।

२— भेदविज्ञान द्वारा आत्मा को शरीरादि से भिन्न जानता है, वह अंतरात्मा-सम्यग्दृष्टि है। अंतरात्मा भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन प्रकार के हैं। चौथे गुणस्थानवर्ती अव्रती सम्यग्दृष्टि, वे जघन्य अंतरात्मा हैं; सम्यग्दर्शन तथा आत्मज्ञान के उपरान्त व्रतधारी पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक तथा बाह्य-अंतर परिग्रहरहित छट्ठे गुणस्थानवर्ती महाव्रतधारी मुनि, वे मध्मय अंतरात्मा हैं; और सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक प्रवर्तमान आत्मध्यान में लीन शुद्धोपयोगी मुनिवर, वे उत्तम अंतरात्मा हैं।

—यह तीनों प्रकार के अंतरात्मा मोक्षमार्ग में विचरनेवाले हैं।

३— आत्मा के परम सर्वज्ञपद को प्राप्त जीव, वे परमात्मा हैं; उनके दो प्रकार हैं—एक सकल परमात्मा और दूसरे निकल परमात्मा।

शरीरसहित ऐसे अरिहंत परमात्मा वे सकल परमात्मा हैं; उन्हें लोकालोकवर्ती समस्त पदार्थों को जाननेवाला केवलज्ञान, तथा केवलदर्शन, अनंत सुख तथा अनंत वीर्य—ऐसे चतुष्टय प्रगट हो गये हैं; तथा ज्ञानावरणादि चार घातिकर्म नष्ट हो गये हैं। चार अघातिकर्म शेष हैं। वे केवलज्ञानादि अंतरंग लक्ष्मी से तथा समवशरणादि बहिरंग लक्ष्मी से संयुक्त हैं; उनके परम औदारिकशरीर होता है, किन्तु क्षुधा, तृषा, रोगादि अठारह महादोष नहीं होते। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में वर्तते हुये ऐसे अरिहंत भगवान, वे सकल परमात्मा हैं।

''घनघातिकर्म विहीन अरु, चौंतीस अतिशय युक्त हैं,
कैवल्य ज्ञानादिक परमगुण-युक्त श्री अरिहंत हैं।''

शरीररहित ऐसे सिद्ध भगवान, वे निकल परमात्मा हैं। उनको ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का नाश हो गया है, वे शरीरादि नोकर्म भी छूट गये हैं। वे लोकाग्र में शरीररहित विराजमान हैं। ज्ञान ही उनका शरीर है और सादि-अनंत अनंत आत्मिक अतीन्द्रिय सुख भोगते हैं। द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म रहित ऐसे सिद्ध परमात्मा, वे निकल परमात्मा हैं।

'हैं अष्टकर्म विनष्ट, अष्ट महागुण संयुक्त हैं,
शाश्वत, परम अरु लोक अग्र विराजते श्री सिद्ध हैं।'

इस प्रकार बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा—ऐसे तीनों प्रकार के आत्माओं को पहिचानकर, उनमें से बहिरात्मापने को तो हेय जानकर छोड़ना चाहिये और अंतरात्मा होकर, परमात्मस्वरूप के ध्यान द्वारा परमात्मपना प्रगट करना चाहिये।

प्रश्न (२-अ)—सात तत्त्वों के नाम लिखो और उनमें से जीवतत्त्व की, बंधतत्त्व की तथा संवरतत्त्व की अज्ञानी कैसी भूल करता है, उसका वर्णन करो।

उत्तर (२-अ)—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—यह सात तत्त्व हैं; उनमें जीवादिक तत्त्वों के सम्बन्ध में अज्ञानी जीव निम्नोक्तानुसार भूल करता है।

जीवतत्त्व की भूलः—

जीव का स्वरूप तो चेतना अर्थात् दर्शन-ज्ञानमय है; अमूर्तिक है और शरीरादि अजीव से वह भिन्न है। जीव के ऐसे स्वरूप को तो मिथ्यादृष्टि जीव जानता नहीं है और शरीर को ही आत्मा मानता है; अनुकूल सामग्री के संयोग से वह अपने को सुखी, और प्रतिकूल सामग्री के संयोग से दुःखी मानता है। तथा मैं निर्धन, मैं धनवान, मैं रोगी, मैं निरोगी, मैं राजा, मैं रंक—इस प्रकार जीव को मानता है। तथा शरीर का जन्म होने से जीव की उत्पत्ति और शरीर का वियोग होने से जीव का नाश मानता है;—इसप्रकार शरीरादि बाह्य पदार्थों की पर्याय को जीव की ही पर्याय मानता है, किन्तु उन शरीरादि से अत्यन्त भिन्न और रागरहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप जीव को वह अज्ञानी नहीं जानता—वह जीवतत्त्व की भूल है। (जीवतत्त्व की भूल में अजीवादि तत्त्वों की भूल भी साथ होती ही है।)

बंधतत्त्व की भूलः—

मिथ्यात्व तथा हिंसादिक तीव्र कषायरूप भाव, वह पाप है, और दयादिक मंद कषायरूप भाव वह पुण्य है। यह पाप तथा पुण्य—दोनों भाव, जीव को दुःखकारी और बंधन का ही कारण

हैं; तथापि मिथ्यादृष्टि जीव उन दोनों को बंध का कारण न जानकर उनमें से पुण्य को धर्म का कारण मानता है, अर्थात् बंध के कारण को मोक्ष का कारण मानकर उसका सेवन करता है। जिस प्रकार बेड़ी सोने की हो या लोहे की, किन्तु वह बंधन कर्ता ही है; उसी प्रकार पुण्य और पाप दोनों बंधन कर्ता हैं, तथापि अज्ञानी मात्र पाप को ही बंध का कारण जानकर छोड़ने योग्य मानता है, और पुण्य को वह बंध का कारण नहीं जानता किन्तु मोक्ष का कारण मानता है, वह उसकी बंधतत्त्व सम्बन्धी भूल है। और पुण्य-पाप के निमित्त से जो बाह्य सामग्री का संयोग होता है, उसमें भी अज्ञानी जीव अपने ज्ञानानन्द अबंधस्वरूप को भूलकर प्रीति-अप्रीति करता है; किन्तु पुण्य-पाप के बंधन से रहित ऐसे अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप को नहीं पहिचानता और बंध को ही अपना स्वरूप मानता है, वह बंधतत्त्व की भूल है।

संवरतत्त्व की भूलः—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो संवर है, वह आत्मा को कल्याण का कारण है अर्थात् वह मोक्ष का कारण है; किन्तु अज्ञानी जीव उन सम्यग्दर्शनादिक को कष्टदायक मानता है। आत्मा के स्वरूप को समझना आदि कार्य तो उसे कष्टदायक मालूम होते हैं, उनके श्रवण तथा उपाय में उसे अरुचि उत्पन्न होती है और विषय-कषाय इष्ट लगते हैं; इसलिये वह सम्यग्दर्शनादि संवरतत्त्व का उपाय नहीं करता।—यह उसकी संवरतत्त्व सम्बन्धी भूल है।

—इसप्रकार जीवादि तत्त्वों की भूल, वह मिथ्यात्व है; और उस मिथ्यात्व के कारण जीव घोर दुःखमय संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

प्रश्न (२-ब)—सात तत्त्वों में से कितने तत्त्व द्रव्यरूप हैं; कितने निर्मल पर्यायरूप हैं और कितने मलिन पर्यायरूप हैं - वह बतलाओ।

उत्तर (२-ब)—सात तत्त्वों में से जीव और अजीव—यह दो तत्त्व द्रव्यरूप हैं; संवर-निर्जरा, वह साधक (अपूर्ण) निर्मल पर्याय है, और मोक्ष, वह साध्यरूप (पूर्ण) निर्मलदशा है; आस्रव तथा बंध-यह दो तत्त्व मलिन पर्यायरूप हैं। (पुण्य-पाप इन दोनों का समावेश आस्रव-बंध में हो जाता है।)

प्रश्न (३-अ)—निम्नोक्त शब्दों की व्याख्या करो—

१-निश्चयसम्यग्दर्शन, २-कुधर्म, ३-व्यवहारसम्यग्दर्शन, ४-कुगुरु, ५-एकान्तवाद, ६-निर्जरा।

उत्तर (३-अ)—(१) निश्चयसम्यग्दर्शनः—जगत के समस्त परद्रव्यों और परभावों से भिन्न अपने शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करना, अटल रुचि करना—अनुभव सहित प्रतीति करना, सो निश्चयसम्यग्दर्शन है।

(२) कुधर्मः—जहाँ मिथ्यात्व तथा राग-द्वेषरूप भावहिंसा में तथा त्रस-स्थावर जीवों के घातरूप द्रव्यहिंसा में धर्म माना जाता हो, और सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थगुरु आदि के स्वरूप को विपरीत माना जाता हो, वह कुधर्म है।

(३) व्यवहारसम्यग्दर्शनः—जीव-अजीवादि सातों तत्त्वों को यथावत् जानकर श्रद्धा करना, तथा सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थगुरु और अनेकान्तमय अहिंसा धर्म की श्रद्धा करना, सो व्यवहारसम्यग्दर्शन है।

(४) कुगुरुः—जिनके अंतर में मिथ्यात्वादि परिग्रह वर्तता है, जो अपनी महंतता के अर्थ कुलिंग-मिथ्यावेष धारण करते हैं, अथवा वस्त्रादि परिग्रह रखकर भी अपने को मुनि मानते हैं,—उन्हें कुगुरु जानना। कुगुरु पत्थर की नौका समान हैं—जो स्वयं तो भव सागर में डूबते हैं और अपना आश्रय (श्रद्धा-भक्ति) करनेवालों को भी डुबोते हैं।

(५) एकान्तवादः—वस्तु तो नित्य-अनित्य इत्यादि अनेक धर्म स्वरूप होने पर भी दूसरे धर्मों की अपेक्षा छोड़कर उसे सर्वथा एक ही धर्मरूप कहना, सो एकान्तवाद है। जैसे कि—'आत्मा नित्य ही है'—अथवा 'आत्मा अनित्य ही है'—ऐसा मानना, वह एकान्तवाद है।

(६) निर्जराः—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बल से पूर्व कर्मों का खिर जाना, सो निर्जरा है। शुद्धोपयोग से आत्मा में एकाग्र होने पर शुभ-अशुभ समस्त इच्छाएँ रुक जाती हैं, वह तप है, उसके द्वारा कर्म खिर जाते हैं। उसमें शुद्धोपयोग, वह भावनिर्जरा है और जड़ कर्मों का अंशतः खिर जाना, सो द्रव्यनिर्जरा है।

प्रश्न (३-ब)—निम्नोक्त विषय पूर्वापर सम्बन्ध देकर समझाओ—

(१) .....सो सम्यग्ज्ञान कला है।

(२) ..... शिवस्वरूप शिवकार।

(३) .....तिनही को सेवत गिनत चैन।

(४) .....आतम-अनात्म के ज्ञान हीन।

(५) .....जग जाल भ्रमण को देहु त्याग

उत्तर (३-ब)—(१) निश्चय मोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप बतलाते हुए पं० दौलतरामजी छहढाला की तीसरी ढाल में कहते हैं कि:

पर द्रव्यनितें भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है,
आपरूप को जानपनो सो सम्यक् ज्ञान कला है...

पर से भिन्न अपने शुद्धात्मा की रुचि, सो सम्यक्त्व है, और अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान, सो सम्यक्ज्ञानरूपी कला है...

(२) छहढाला के मंगलाचरण में ही कहा है कि—

तीन भुवन में सार वीतराग-विज्ञानता,
शिवस्वरूप शिवकार नमहुं त्रियोग सम्हारिकें।

राग-द्वेष रहित ऐसा जो वीतराग-विज्ञान, वह तीन भुवन में सारभूत है और वह शिवस्वरूप अर्थात् कल्याणस्वरूप है, तथा शिवकार अर्थात् मोक्ष करानेवाला है; इसलिये उस वीतरागी-विज्ञान को मन-वचन-काय से सावधानीपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

(३) मिथ्यादृष्टि जीव, तत्त्व की विपरीत श्रद्धा किस प्रकार - वह बतलाते हुए दूसरी ढाल में कहते हैं कि—

तन उपजत अपनी उपज जान,
तन नाशत आपको नाश मान,
रागादि प्रगट जे दुःख दैन,
तिनही को सेवत गिनत चैन।

— शरीर उत्पन्न होने से अपने आत्मा की उत्पत्ति मानते हैं और शरीर का नाश होने से अपने आत्मा का नाश मानते हैं; तथा रागादिक प्रगटरूप से दुःख दाता होने पर भी उनके सेवन से सुख मानते हैं।

(४-५) दूसरी ढाल में गृहीत मिथ्याचारित्र का स्वरूप बतलाकर उसे छोड़ने का उपदेश देते हुए कहते हैं कि—

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह-
धरि करत विविध विध देह दाह,
आतम-अनात्म के ज्ञान हीन
जे जे करनी तन करत छीन;

ते सब मिथ्याचारित्र त्याग
अब आतम के हित पंथ लाग,
जग जाल भ्रमण को देहु त्याग
अब दौलत निज आतम सुपाग।

—आत्मा और अनात्मा के भेदज्ञान बिना ख्याति-लाभ-पूजादि की इच्छा से अज्ञानी जीव, देह को दाह करनेवाली विविध प्रकार की जो क्रिया (पंचाग्नि तप आदि) करके शरीर को क्षीण करते हैं, वह सब गृहीत मिथ्याचारित्र है—ऐसा जानकर हे जीव! तू मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को छोड़.... और आत्महित के मार्ग पर लग जा। इस जगत के जाल में भटकना छोड़ और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा नित आत्मा में मग्न हो।

प्रश्न (४)—निम्नोक्त प्रश्नों के उत्तर लिखो—

(१) कौन-कौन से द्रव्य गति करते हैं? उसमें उपादान और निमित्त क्या है?

(२) शरीरों के नाम लिखो; सबसे अधिक शरीर किसके होते हैं?

(३) पुद्गल परमाणु को अस्तिकाय किसलिये कहा है?

(४) कर्म आत्मा को परिभ्रमण कराते हैं—ऐसा माननेवाले ने कौन-सा अभाव नहीं माना?

(५) कौन-सा जीव कब लोकाकाश के बराबर होता है?

(६) प्रत्यभिज्ञान का कारण कौन है?

(७) महावीर भगवान मोक्ष को प्राप्त हुए—उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाओ।

(८) वर्तमान में विचरते हुए सीमंधर भगवान का प्राग्भाव तथा प्रध्वंसाभाव बतलाओ।

उत्तर (४)—(१) छह द्रव्यों में जीव और पुद्गल—यह दो द्रव्य ही गति करते हैं; उसमें उपादान उन-उन द्रव्यों की क्रियावतीशक्ति का परिणमन है और निमित्त धर्मास्तिकाय है।

(२) शरीर पाँच हैं:—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण। उनमें से छट्ठे गुणस्थानवर्ती किसी मुनि को सूक्ष्म तत्त्व में शंका होने पर उसके समाधान के लिये आहारकशरीर प्रगट होता है और निकट में विराजमान केवली-श्रुतकेवली के पास जाकर शंका का समाधान करता है; उस प्रसंग पर उन मुनि को सबसे अधिक (चार) शरीर होते हैं, वे इस प्रकार हैं—औदारिक, आहारक, तैजस और कार्मण।

(३) पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी होने से, निश्चय से यद्यपि वह अस्तिकाय नहीं है, किन्तु स्पर्शगुण के कारण अनेक परमाणु के प्रदेश के साथ स्कंधरूप होते हैं, उस शक्ति अपेक्षा से उसे अस्तिकाय भी कहा जाता है।

(४) कर्म आत्मा को परिभ्रमण कराते हैं—ऐसा जो मानते हैं, वे कर्म और आत्मा के बीच के अत्यन्त अभाव को नहीं मानते। आत्मा और कर्म—दोनों का एक-दूसरे में अत्यन्त अभाव है, इसलिये यह बात सच्ची नहीं है कि धर्म आत्मा को परिभ्रमण कराते हैं।

(५) मोक्ष जाने से पूर्व जिन केवली भगवान को समुद्घात होता है, उन केवली भगवान का आत्मा उस समुद्घात के समय लोकाकाश के बराबर होता है।

(६) 'यह वही है'—इत्यादि प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का कारण द्रव्य की ध्रुवता है। यदि द्रव्य कथंचित् ध्रुव न हो तो उसका प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता।

(७) 'भगवान महावीर मोक्ष को प्राप्त हुए'—वहाँ मोक्षदशा का उत्पाद हुआ, संसारदशा का व्यय हुआ और भगवान के आत्मा की ध्रुवता रही;—इसप्रकार एक साथ उत्पाद-व्यय-ध्रुवता है।

(८) वर्तमान अरिहंत पद पर विराजमान श्री सीमंधरभगवान का उनकी अल्पज्ञतारूप पूर्व पर्याय में जो अभाव है, वह प्राग्-अभाव है और भविष्य की सिद्धपर्यायों में जो अभाव है, वह प्रध्वंस-अभाव है।

प्रश्न (५):—निम्नोक्त पदार्थों की व्याख्या लिखो:—

(१) वस्तुत्वगुण, (२) बंध, (३) जीव, (४) स्वभावअर्थपर्याय, (५) प्रदेश, (६) अनुजीवी गुण, (७) अन्योन्याभाव।

उत्तर (५):—(१) वस्तुत्वगुण:— जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अर्थक्रिया हो, उसे वस्तुत्वगुण कहते हैं; जिस प्रकार पानी को धारण करना, वह घड़े की अर्थक्रिया है; उसी प्रकार अपने-अपने गुण-पर्यायों को धारण करना, वह प्रत्येक द्रव्य की अर्थक्रिया है।

(२) बंध:—अनेक वस्तुओं में एकत्व का ज्ञान करानेवाले सम्बन्ध विशेष को बंध कहते हैं।

(३) जीव:—जिसमें सदैव चेतनागुण हो, वह जीव है।

(४) स्वभावअर्थपर्याय:—दूसरे के निमित्त बिना जो अर्थपर्याय हो, उसे स्वभावअर्थ-पर्याय कहते हैं; जैसे कि:—जीव की केवलज्ञान पर्याय।

(५) प्रदेश:—आकाश के जिस सबसे छोटे भाग को एक परमाणु रोके, उतने भाग को 'प्रदेश' कहते हैं; उसके दो भागों की कल्पना नहीं हो सकती।

(६) अनुजीवी गुण:—वस्तु के 'भाव स्वरूप' गुणों को अनुजीवी गुण कहते हैं—जैसे कि जीव में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-सुख आदि, और पुद्गल में स्पर्श-रस-गंध-वर्ण आदि।

(७) अन्योन्य अभाव:—एक पुद्गल की वर्तमान पर्याय में दूसरे पुद्गलों की वर्तमान पर्याय का अभाव है, उसे अन्योन्य अभाव कहते हैं।

प्रश्न (६)—निम्नोक्त पदार्थ द्रव्य हैं, गुण हैं या पर्याय हैं ? वह बतलाओ। उनमें जो द्रव्य हो, उसका विशेष गुण लिखो; जो गुण हो, वह किस द्रव्य का है ? तथा अनुजीवी है या प्रतिजीवी—वह भी लिखो; और जो पर्याय हो, वह किस द्रव्य की, किस गुण की और किस जाति की है, वह भी बतलाओ।

(१) केवलज्ञान, (२) काल, (३) अचेतनत्व, (४) परछाईं, (५) स्थितिहेतुत्व, (६) समुद्घात, (७) लोभ।

उत्तर (६)— (१) केवलज्ञान:—वह पर्याय है; जीवद्रव्य के ज्ञानगुण की स्वभाव -अर्थपर्याय है।

(२) काल:—वह द्रव्य है; परिणमनहेतुत्व उसका विशेष गुण है।

(३) अचेतनत्व:—वह गुण है; पुद्गलादि पाँच अजीव द्रव्यों का प्रतिजीवी गुण है।

(४) परछाईं:—वह पर्याय है; पुद्गलद्रव्य के रंगगुण की विभावअर्थपर्याय है।

(५) स्थितिहेतुत्व:—वह गुण है, अधर्मास्तिकाय का विशेष गुण है तथा अनुजीवी है।

(६) समुद्घात:—वह पर्याय है; जीवद्रव्य के प्रदेशत्वगुण की विभावव्यंजनपर्याय है।

(७) लोभ:—वह पर्याय है; जीवद्रव्य के चारित्रगुण की विभावअर्थपर्याय है। ●

❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀

भगवान को नमस्कार

अहो, भगवान ! आप स्वाश्रय द्वारा ज्ञान सम्पदा को प्राप्त हुए और स्वाश्रय द्वारा ज्ञान सम्पदा की ही प्राप्ति का उपदेश हमें दिया। हम उस उपदेश को झेलकर.... ज्ञान सम्पदा की ओर झुककर आपको नमस्कार करते हैं; आपके पंथ पर आते हैं.... इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

[पूज्य गुरुदेव] (प्रवचनसार गाथा ८२ के प्रवचन से)

❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[२१]

अकर्तृत्वशक्ति

[इसी अंक में आगे २० नं० का लेख पढ़िये]

'समस्त, कर्म से किये गये और ज्ञातृत्वमात्र से पृथक् जो परिणाम, उन परिणामों के कारण के उपरमस्वरूप ऐसी अकर्तृत्वशक्ति है।' ज्ञान को अन्तर्मुख करके आत्मा का अनुभव करते हुए उसमें इस शक्ति का परिणमन भी साथ ही वर्तता है। जहाँ ज्ञान में आत्मस्वभाव को पकड़ा, वहाँ विकारीभावों का कर्तृत्व छूट जाता है—विराम को प्राप्त होता है, वह अकर्तृत्वशक्ति का निर्मल परिणमन है। शुभ-अशुभ समस्त परिणाम आत्मा के ज्ञायकभाव से पृथक् हैं; इसलिये पर्याय जहाँ ज्ञायकस्वभावोन्मुख हुई, वहाँ उसमें ज्ञातापना ही रहा और शुभ-अशुभ परिणामों का कर्तृत्व वहाँ उपरम को प्राप्त हुआ-छूट गया। इसप्रकार ज्ञानमात्र भाव में विकार को न करे, ऐसा अकर्तृत्वशक्ति का परिणमन भी है। यहाँ विकार के अकर्तृत्व की अपेक्षा से अकर्तृत्वशक्ति बतलाई है और ४२ वीं कर्तृत्वशक्ति कहकर वहाँ निर्मल पर्याय का कर्तापना बतलायेंगे। अपनी पर्याय के छहों कारणरूप आत्मा स्वयं ही परिणमित होता है—ऐसी उसकी शक्ति है, उसका वर्णन आगे आयेगा।

विकारी भाव करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है, ज्ञान से वे विकारी भाव पृथक् हैं; इसलिये उन्हें कर्मकृत कहा है; उसमें विकार से भिन्न ज्ञानस्वभाव बतलाने का प्रयोजन है। 'विकारीभाव मेरे ज्ञान द्वारा किये गये नहीं हैं किन्तु कर्मकृत हैं'—ऐसा माननेवाले की दृष्टि कहाँ पड़ी है ? उसकी दृष्टि तो अपने ज्ञानस्वभाव पर पड़ी है। साधक जीव ज्ञातास्वभाव की दृष्टि के

बल से निर्दोषतारूप ही परिणमित होता है, इसलिये उसे मिथ्यात्वादि अशुभ परिणामों का कर्तृत्य तो रहा ही नहीं है; और जो अल्प रागादिभाव होते हैं, उनकी मुख्यता नहीं है—उन्हें ज्ञायकभाव से भिन्न जाना है, इसलिये उनका भी अकर्तृत्व ही है; इसप्रकार विकारीभावों को कर्मकृत कहा है। ऐसा अकर्तृत्व समझनेवाला साधक जीव, पर्याय में भी अकर्तारूप परिणमित हुआ है, उसकी यह बात है। परन्तु जो जीव, विकार से भिन्न ऐसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि तो नहीं करता, विकार से लाभ मानकर उसका कर्तृत्व नहीं छोड़ता, ज्यों का त्यों मिथ्यात्व सेवन करता रहता है और कहता है कि 'विकार तो कर्म का कार्य है—ऐसा शास्त्र में कहा है'—तो वह जीव, शास्त्र का नाम लेकर मात्र अपने स्वच्छन्द का ही पोषण करता है; आत्मा की अकर्तृत्वशक्ति उसकी प्रतीति में आई ही नहीं है; क्योंकि अकर्तृत्वशक्ति को स्वीकार कर ले तो पर्याय में मिथ्यात्वादि का कर्तृत्व रहेगा ही नहीं, अर्थात् उसके मिथ्यात्वादिभाव उपशम को प्राप्त होंगे।

आत्मा में अकर्तृत्वस्वभाव तो अनादि-अनंत है, वह सदैव विकार से उपरम स्वरूप ही है, उस स्वरूप की अपेक्षा से आत्मा विकार का कर्ता है ही नहीं। जिसने ऐसे स्वभाव को स्वीकार किया, उसे पर्याय में भी मिथ्यात्वादि का अकर्तृत्व हो जाता है। मिथ्यात्वभाव होता है और उसका अकर्ता है—ऐसा नहीं, किंतु मिथ्यात्वभाव उसे होता ही नहीं; और अस्थिरता का जो अल्पराग रहता है, उसका श्रद्धा में स्वीकार नहीं है; इसलिये उसका भी अकर्ता है। अज्ञानी जीव अपने अकर्तास्वभाव को भूलकर, पर्याय की विपरीतता से विकार के कर्तारूप परिणमित होता है; पर का कर्तृत्व तो अज्ञानी को भी नहीं है। पर से तो आत्मा अत्यन्त भिन्न है; इसलिये उसका तो कर्तृत्व है ही नहीं, इसलिये यहाँ पर के अकर्तृत्व की बात नहीं ली। किन्तु अज्ञानदशा में विकार का कर्तृत्व है, इसलिये ज्ञायकस्वभाव बतलाकर आचार्यदेव उसे विकार का अकर्तृत्व समझाते हैं। भाई! तेरा आत्मा ज्ञायकस्वभाव से परिपूर्ण है, वह कहीं विकार से परिपूर्ण नहीं है; विकार तो उससे बाहर है; इसलिये तेरा स्वभाव विकार के अकर्तारूप है—ऐसा तू समझ! जो ऐसी अकर्ताशक्ति को समझ ले, वह विकार का कर्ता क्यों होगा?—वह क्षणिक विकार को ही आत्मा क्यों मानेगा? विकार से छूटकर उसकी पर्याय शुद्ध ज्ञायकस्वभावोन्मुख हो जाती है। अहो! ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने से ज्ञाता परिणाम हो गये—वह इस शक्ति की पहिचान का फल है।

धर्मी स्वभावदृष्टि में रहने से ज्ञातारूप परिणमित होते हैं; अल्प विकार रहा, उसके भी ज्ञातारूप से परिणमित होते हैं, कर्तारूप परिणमित नहीं होते; इसलिये उस विकार को टालने की आकुलता भी उन्हें नहीं है; स्वभाव के वेदन की मुख्यता में उन्हें समता और शांति है; विकार से उपराम पाकर वह आत्मा उपशांत हो गया है। 'अहो! मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ; मेरे ज्ञान में पर का या विकार का कर्तृत्व नहीं है; मेरे कर्तृत्व के बिना ही जगत के कार्य हो रहे हैं; मेरे ज्ञातापरिणाम, राग के भी कर्ता नहीं है; अपने ज्ञायकभाव के अतिरिक्त मुझे सर्वत्र अकर्तृत्व ही है'—इसप्रकार धर्मी जीव अपनी अकर्तृत्वशक्ति को निर्मलरूप से उल्लसित करता है। ज्ञायकस्वभावी आत्मा की अकर्तृत्वशक्ति ऐसी है कि उसका स्वभाव कभी भी राग के कर्तारूप परिणमित नहीं होता; और ऐसे स्वभाव की ओर ढली हुई पर्याय भी राग के अकर्तारूप परिणमित हो गई है। आत्मा के ऐसे स्वभाव को पहिचाने बिना रागादि विकार का कर्तृत्व दूर नहीं होता, अर्थात् धर्म नहीं होता। लोग कहते हैं कि 'निवृत्ति लो...'—लेकिन निवृत्ति कहाँ से लेना है? पर से तो आत्मा पृथक ही है, इसलिये उससे तो निवृत्त ही है; अनादिकाल से क्षण-क्षण विकार को अपना स्वरूप मानकर उसमें वर्त रहा है, उससे निवृत्त होना है। उससे कैसे निवृत्ति हो?—कि आत्मा का ज्ञायकस्वरूप, विकार से त्रिकाल निवृत्त ही है; ऐसे स्वभाव को पहिचानकर उसमें जो पर्याय ढली, वह पर्याय, विकार से निवृत्त हो जाती है; विकार से निवृत्त ऐसे ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन करते-करते साधक को पर्याय में निवृत्ति बढ़ती जाती है; प्रतिक्षण वीतरागता में वृद्धि होने से उसे राग का साक्षात् अकर्तृत्व हो जाता है।—इसप्रकार अनेकान्तस्वरूप आत्मा को पहिचानने से मुक्ति होती है।

वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को भूलकर एकान्त मार्ग पर चलनेवाले अज्ञानी जीव को आत्मशक्तियों की पहिचान द्वारा अनेकान्तमय आत्मस्वरूप बतलाकर मोक्षमार्ग में ले जाते हैं। अरे जीव! तेरे आत्मा में ज्ञान की सहचारिणी अनंत शक्तियाँ एक साथ हैं; अनंत शक्तियों से परिपूर्ण अपने ज्ञानमूर्ति आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में ले तो पर्याय में अनंत शक्ति का निर्मल परिणमन होते-होते मुक्ति हो, और विकार के साथ एकत्व की तेरी एकान्तबुद्धि छूट जाये।

त्रिकाली चैतन्यस्वरूप आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन-आनन्द है; विकार करने का उसका स्वभाव नहीं है; इसलिये समस्त विकारी भावों को कर्म द्वारा किया गया कहकर ज्ञायकस्वभाव में उसका अकर्तृत्व बतलाया है;—इसप्रकार शुद्धज्ञायक आत्मा की दृष्टि कराई है। जो जीव शुद्ध ज्ञायक आत्मा की दृष्टि करे, उसी को इन अकर्तृत्वादि शक्तियों का यथार्थ स्वरूप समझ में आता है। जैसी शुद्ध शक्ति है, वैसा ही रूप पर्याय में आये, तभी शक्ति की सच्ची पहचान हुई है।

पर्याय में जीव स्वयं विकारी भाव करता है; कहीं कर्म नहीं कराते; किन्तु जिसकी दृष्टि शुद्ध आत्मा पर है, वह शुद्ध आत्मा से विरुद्ध ऐसे विकारीभावों का कर्ता नहीं होता, और जिसकी दृष्टि शुद्ध आत्मा पर नहीं है किन्तु कर्मों पर है, वही विकार में एकत्वबुद्धि द्वारा उसका कर्ता होता है। कर्म की दृष्टि में ही उस विकार का कर्तृत्व है, इसलिये उसे कर्मकृत कहा है। स्वभावदृष्टि में उसका कर्तृत्व नहीं है, इसलिये स्वभावदृष्टिवाला आत्मा उसका अकर्ता ही है। यहाँ सम्यग्दृष्टि के विषयभूत-ध्येयभूत शुद्ध आत्मा बतलाना है, इसलिये निर्मल पर्याय तो उसमें अभेदरूप से आ जाती है, किन्तु मलिन पर्याय उसमें नहीं आती। शुद्ध आत्मा की दृष्टि में मलिनता नहीं है, इसलिये उस दृष्टि में मलिनता को कर्मकृत ही कहा जाता है।

हे भाई! तू कौन है? उसकी यह बात है। तू आत्मा है, तो कितना है और कैसा है?—तू त्रिकाल है, अपनी अनंत शक्ति और उसकी निर्मल पर्यायों जितना तू है; विकार को उत्पन्न करे, ऐसा तू नहीं है। तेरे आत्मा की अनंत शक्तियों में ऐसी एक भी शक्ति नहीं है जो विकार करे। अज्ञानी कहता है कि—'आत्मा अपनी समझ में नहीं आता; हम तो पुण्य करते रहेंगे और सांसारिक सुख भोगेंगे?'—उससे ज्ञानी कहते हैं कि अरे मूढ़! पुण्य करने का आत्मा का स्वभाव ही नहीं है। आत्मा का अनादर करके तू पुण्यफल का उपभोग करना चाहता है; उसमें तो अनंत पापों का मूल है। यदि आत्मा का स्वभाव विकार करने का हो, तब तो विकार से कभी उसका छुटकारा हो ही नहीं सकता, इसलिये मुक्ति भी कभी नहीं होगी। विकार का कर्तृत्व माननेवाला और ज्ञायकस्वभाव को न जाननेवाला कभी मुक्ति को प्राप्त नहीं होता।

जिसप्रकार लोहे में ऊपर-ऊपर थोड़ी सी जंग लगी है किन्तु भीतरी भाग में जंग नहीं है।—इस तरह दोनों पक्षों को जानकर जंग निकालने का प्रयत्न करता है; उसी प्रकार आत्मा में क्षणिक पर्याय में विकाररूपी जंग है, किन्तु भीतरी असली स्वभाव में वह विकार नहीं है, विकाररहित शुद्धस्वभाव त्रिकाल है—इसप्रकार दोनों पक्षों को जानकार, शुद्ध द्रव्य की ओर बल लगाने पर पर्याय में से विकार दूर हो जाता है और शुद्धता प्रगट होती है। जो जीव आत्मा के शुद्ध स्वभाव पर जोर नहीं देता और पुण्य पर जोर देता है, वह विकार करने का ही आत्मा का स्वभाव मानता है, इसलिये विकार के अकर्तृत्वरूप आत्मा की शक्ति का वह अनादर करता है। आत्मा के अनादर का फल अनंत संसार में परिभ्रमण है और आत्मस्वभाव की आराधना का फल मुक्ति है। अरे जीव! अब तुझे अपने शुद्ध आत्मा की रुचि करना है या पुण्य-पाप की? अनादि से विकार की रुचि करके तो तू संसार में भटका है; अब यदि तुझे संसार से मुक्त होना हो तो अपने शुद्ध आत्मा की रुचि कर! अहो! मेरा आत्मस्वभाव कभी विकाररूप नहीं हो गया है, अनंत शक्ति की शुद्धता में कभी विकार प्रविष्ट ही नहीं हुआ है, इसलिये विकार मेरा कर्तव्य नहीं है, मैं तो ज्ञायकभावमात्र हूँ;—इसप्रकार स्वभाव की रुचि लाकर उसकी ओर उन्मुख हो और विकार के कर्तृत्व से विराम ले! शुभ या अशुभ समस्त विकारी परिणाम तेरे ज्ञायकभाव से पृथक् ही हैं, उन्हें करना तेरा कर्तव्य नहीं है, किन्तु ज्ञायकरूप रहकर उस विकार का अकर्ता होना तेरा कर्तव्य है। कर्तव्य अर्थात् स्वभाव। जिसके अंतर अवलम्बन से विकार को छेदकर मुक्ति हो, ऐसा तेरा स्वभाव है और वही तेरा कर्तव्य है। जो राग को अपना कर्तव्य माने, वह राग को छेदकर मुक्ति कहाँ से प्राप्त करेगा?

देखो, यह एक लाख चौंतीस हजार रुपये का 'कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप,' और सवा लाख का मानस्तम्भ बना—वह किसने बनाया? क्या यह सब आत्मा ने बनाया है? नहीं; आत्मा तो इनका अकर्ता है, अज्ञानी का आत्मा भी उनका अकर्ता ही है; कारीगरों आदि का आत्मा भी उनका कर्ता नहीं है तथा उस ओर का धर्मी को जो शुभराग होता है, उस राग के भी धर्मी अकर्ता हैं; क्योंकि धर्मी तो एक ज्ञायकस्वभाव को ही स्व मानते हैं और उस स्वभाव की दृष्टि में उन्हें विकार का कर्तृत्व नहीं है। विकार की उत्पत्ति करने का आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु उसका

अंत करने का स्वभाव है। आत्मस्वभाव पुण्य-पाप की प्रवृत्ति से निवृत्तरूप है; ऐसे अकर्तृत्वस्वभाव को जो नहीं जानता, उसे अकर्तृत्वशक्ति का विपरीत परिणमन होता है, इसलिये वह विकार का कर्ता होता है।

प्रश्न : हम तो विषय-कषाय में डूब रहे हैं, इसलिये देव-गुरु-शास्त्र की ओर का भाव करें तो हमारा कुछ हित होगा।

उत्तर : भाई! ऐसे लक्ष से तुझे अशुभ दूर होकर शुभ तो होगा,—यह ठीक है, किन्तु अपने आत्मा में उस शुभ का ही कर्तृव्य मानकर यदि वहीं अटक जायेगा तो तुझे आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी, अर्थात् धर्म या कल्याण नहीं होगा। इसलिये शुभ के भी अकर्तारूप तेरा ज्ञायकस्वभाव है, उस स्वभाव को लक्ष में ले।

ज्ञानी कहते हैं कि आत्मस्वभाव के आश्रय से कल्याण होता है और अज्ञानी कहते हैं कि राग से और व्यवहार से कल्याण होता है।—इस प्रकार निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्तादि में दो पक्ष हो गये हैं। जिस प्रकार महायुद्ध चल रहा था, उस समय कोई कहते थे कि 'हिटलर' जीतेगा और दूसरे कहते थे कि 'ब्रिटेन' जीतेगा;—इसप्रकार दो पक्ष करके यहाँ भी लोग आपस में झगड़ पड़ते थे; उसी प्रकार यहाँ एक सिद्धों के ओर की पार्टी है और दूसरी निगोद के ओर की; सिद्धों की पार्टीवाले कहते हैं कि निश्चय से अर्थात् आत्मस्वभावोन्मुख होने से ही मुक्ति होती है, पुण्य से या निमित्त सन्मुख होने से तीन काल-तीन लोक में मुक्ति नहीं होती। और उपादान अपनी शक्ति से कार्यरूप परिणमित हो, वहाँ उसे योग्य निमित्त होता है—ऐसा सिद्धों की पार्टीवाले कहते हैं। उसका विरोध करके निगोद की पार्टीवाले कहते हैं कि व्यवहार के आश्रय से-राग के आश्रय से मुक्ति होती है, पुण्य से धर्म होता है और निमित्त के प्रभाव से कार्य में फेरफार हो जाता है। स्वाश्रय से मोक्ष माननेवाले तो स्वाश्रय करके मुक्ति प्राप्त करते हैं—सिद्ध हो जाते हैं; और पराश्रय से मोक्ष माननेवाले पराश्रय कर-करके संसार में भी भटकते हैं और परम्परा निगोददशा प्राप्त करते हैं।—इसप्रकार स्वाश्रयरूप सिद्धों की पार्टी में सम्मिलित हो, वह सिद्ध हो जाता है और पराश्रय से लाभ माननेरूप निगोद पार्टी में सम्मिलित हो, वह निगोद में जाता है।

यहाँ अकर्तृत्वशक्ति में आचार्यदेव समझाते हैं कि भाई! पुण्य-पाप के आश्रय से तेरा हित कैसे होगा? पुण्य-पाप के अभावरूप ऐसा तेरा ज्ञानानन्दस्वभाव है, उसी में तेरा हित है। ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलने से यह पुण्य-पाप की वृत्तियाँ तो छूट जाती हैं, क्योंकि वे ज्ञातास्वभाव में से नहीं आई हैं। ज्ञातास्वभाव में आये हुए ज्ञान-आनन्द के परिणाम आत्मा के साथ सादि-अनंत काल तक ज्यों के त्यों रहते हैं। अनादि से संसारदशा में कर्तृत्व के जो अनंत परिणाम हुए, उनकी अपेक्षा स्वभाव के ज्ञातृत्व परिणाम अनंतगुने हैं; संसारदशा के काल की अपेक्षा सिद्धदशा का काल अनंत गुना अधिक है; क्योंकि संसार की विकारीदशा को तो कोई त्रिकाली आधार नहीं था और इस सिद्धपद की निर्मलदशा को तो अंतर में त्रिकाली ध्रुवस्वभाव का आधार है। अहो! ऐसे आत्मस्वभाव की प्रतीति करे, उसे अपने सिद्धपद की निःशंकता हो जाये..... वर्तमान में ही उसका परिणाम सिद्धदशा की ओर ढल जाये और संसार से विमुख हो जाये अर्थात् वर्तमान में ही वह सिद्धपद का साधक हो जाये।

देखो, यह सूक्ष्म बात है, स्वभाव की बात है। विकार के क्षणिक कर्तृत्व की अपेक्षा त्रिकाल अकर्तृत्वशक्ति का बल तो अनंतगुना है ही; और उस अकर्तृत्वस्वभाव की प्रतीति करने से पर्याय में जो सादि-अनंत अकर्तृत्व परिणाम प्रगट हुए, उनकी संख्या भी कर्तृत्व परिणामों की अपेक्षा अनंत गुनी है।—इसप्रकार विकार की अपेक्षा निर्विकारभाव की शक्ति भाव से तो अनंत गुनी है और संख्या से भी अनंत गुनी है।—ऐसा जो जाने, उसके श्रद्धा-ज्ञान-अंतर की शुद्ध शक्ति की ओर ढले बिना नहीं रहते। जो भूत और भविष्यत दोनों काल को समान मानते हैं, वे तत्त्व की महान भूल करते हैं, वे वस्तुस्वभाव की परिपूर्णता को नहीं जानते।

विकार का कर्ता होता रहे - ऐसा आत्मा का कोई स्वभाव नहीं है, किन्तु विकार के अकर्तारूप ज्ञातृत्व परिणाम होते रहें - ऐसा आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है। ऐसे स्वभाव की पहिचान होते ही वर्तमान परिणाम का बल उस ओर ढल जाता है। पश्चात् स्वभावोन्मुख वृत्ति से पर्याय-पर्याय में उसके अकर्तापनेरूप निर्मल परिणाम होते जाते हैं और विकार का कर्तृत्व छूटता जाता है;—ऐसा होते-होते विकार का सर्वथा अभाव होकर साक्षात् सिद्धदशा प्रगट होती है।

आत्मा और उसकी शक्तियाँ अनादि-अनंत हैं, उसके आश्रय से वर्तमान पर्याय में विकार के कर्तृत्व का अभाव होकर जो सिद्धदशा प्रगट हुई, उसका अब कभी अंत नहीं आयेगा; सादि-अनंतकाल तक स्वभाव में से निर्मल अकर्तृत्व परिणाम का प्रवाह बहता ही रहेगा। अहो, जिसमें से ऐसे अनंत शुद्ध अकर्तृत्व परिणाम प्रगट होते हैं—ऐसे अपने स्वभाव का विश्वास तो अज्ञानी जीव करता नहीं है और एक समय के विकार पर जोर देकर उसके कर्तृत्व में रुक जाता है—यह उसकी विपरीत रुचि का अनंत बल है।

अहो, एक-एक शक्ति का वर्णन करके आचार्यदेव ने सम्पूर्ण समयसार भगवान को प्रकाशित किया है। एक शक्ति को भी बराबर समझ ले तो आत्मा का स्वभाव लक्ष में आ जाये और अनादिकालीन विकार की जो गंध घुसी है, वह निकल जाये। ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलने से विकार का अंत तो आ जाता है, क्योंकि वह वस्तु के स्वरूप में नहीं है; किन्तु ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से जो अकर्तृत्वपरिणाम प्रगट हुए, उनका कभी अंत नहीं आता, क्योंकि वह तो वस्तु का स्वरूप ही है; इसलिये जिसप्रकार वस्तु का अंत नहीं आता, उसीप्रकार उसके स्वरूप में से प्रगट हुए निर्मल परिणामों का भी अंत नहीं आता। देखो, अंतर के ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने से आनन्द का तो अनुभव होता है, किन्तु उसके साथ कहीं राग का अनुभव नहीं होता, क्योंकि आनन्द तो आत्मा का स्वभाव है किन्तु राग आत्मा का स्वभाव नहीं है। उसीप्रकार आनन्द की भाँति दूसरी अनंत शक्तियाँ भी ज्ञान के साथ उछलती हैं, वे सब आत्मा के स्वभावरूप हैं किन्तु विकार आत्मा के स्वभावरूप नहीं है; इसलिये उसका तो अभाव हो जाता है। इसमें स्वभाव तथा विकार के बीच का कितना स्पष्ट भेदज्ञान है!—किन्तु अज्ञानी, विकार की रुचि से इतना अंधा हो गया है कि—विकार से पृथक् जो अपना पूर्ण ज्ञायकस्वभाव अनंत शक्ति से परिपूर्ण है, उसे वह किंचित् भी नहीं देखता।

आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, किंतु उसमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि पर में कार्य करे। पहाड़ खोदने आदि की शक्ति आत्मा में नहीं है; यहाँ तो तदुपरान्त कहते हैं कि—विकार करे, ऐसी भी आत्मा की कोई त्रिकाली शक्ति नहीं है। विकार को न करे, ऐसी अकर्तृत्वशक्ति है। कर्ताबुद्धि के कारण अज्ञानी दूसरे में भी कर्तृत्व देखता है कि—'अमुक व्यक्ति ने ऐसे मन्दिर

बनवाये, अमुक ने शत्रुंजय आदि तीर्थों का जीर्णोद्धार कराया' परन्तु आत्मा उन सबका अकर्ता है—ऐसा अकर्तृत्व साध-साधकर अनंत संत-मुनियों ने आत्मा का उद्धार किया—उसे अज्ञानी नहीं जानता; इसलिये वह कर्ताबुद्धि से संसार में भटकता है।

प्रश्न : परिभ्रमण तो मात्र एक समयपर्यंत का है न?

उत्तर : ज्ञानी तो कहते हैं कि आत्मा में परिभ्रमण करने का भाव (-विकार) एक समयपर्यंत का है; किन्तु अज्ञानी तो उस एक समय के परिभ्रमण के भाव को ही अपना स्वरूप मानता है; इसलिये उसकी दृष्टि में तो वह एक समय का नहीं है किन्तु त्रिकाल सम्पूर्ण आत्मा उसी स्वरूप है—ऐसा उसे भासित होता है; विकार से पृथक् कोई स्वरूप उसे भासित ही नहीं होता। परिभ्रमण का भाव एक समय का ही है—ऐसा यदि वास्तव में जान लिया, तो उससे रहित जो त्रिकाली स्वरूप है, उसकी प्रतीति हो गई; इसलिये विकार और स्वभाव के बीच भेद हो गया—भेदज्ञान हो गया; उसे विकार के ओर की वृत्ति छूटकर स्वभावोन्मुख वृत्ति हो गई।

—ऐसी अंतर्दशा हो, तब विकार को एक समयपर्यंत जाना कहा जाये। किन्तु जो विकार के ओर की ही वृत्ति रखता है, उसने वास्तव में विकार को एक समयपर्यंत नहीं जाना, किन्तु उसी को आत्मा माना है। मेरे ज्ञायक आत्मा में विकार है ही नहीं; इसलिये पर्याय के क्षणिक विकार का कर्तृत्व भी मेरे स्वभाव में नहीं है—इसप्रकार अकर्तृत्वरूप ज्ञायकस्वभाव को पहिचानकर उसकी श्रद्धा करे तो उस स्वभाव में एकाग्रता द्वारा पर्याय में से विकार का बिल्कुल अभाव करके उसका साक्षात् अकर्ता हो जाये।—ऐसा इस शक्ति को समझने का तात्पर्य है।

आत्मा में जिस प्रकार ज्ञानस्वभाव त्रिकाल है, उसीप्रकार पुण्य-पाप के अकर्तृत्वरूप स्वभाव भी त्रिकाल है। आत्मा त्रिकाल अकर्तृत्वशक्ति से परिपूर्ण है, उसे न मानकर पुण्य-पाप का कर्तृत्व ही मानना—वह दृष्टि मिथ्या है। मैं ज्ञायकभाव हूँ और मेरे ज्ञायकभाव में विकार का कर्तृत्व नहीं है—इसप्रकार पहले दृष्टि से विकार का कर्तृत्व खींच ले तथा ज्ञायकस्वभाव की ही दृष्टि रखे, उसका नाम सम्यक्दर्शन है; वह धर्म का प्रारम्भ है। जिस भाव से आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियों में से किसी भी प्रकृति का बंध होता हो, वह भाव विकार है, और वह आत्मा के

ज्ञायकभाव से पृथक् हैं; तथा आत्मा का ज्ञायकभाव उस विकार से निवृत्तस्वरूप है। अहो! ऐसे निवृत्त ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर उसमें स्थित होना योग्य है... वही सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है। जो राग के ही कर्तृत्व में रुककर राग से धर्म मान रहे हैं, उन्हें वीतरागी आत्मतत्त्व की खबर नहीं है, संतों की दशा की खबर नहीं है; जैनधर्म की खबर नहीं है और वास्तव में उन्हें जैन नहीं कहते।

प्रश्न : इसमें तो पुण्य का विच्छेद हो जाता है ?

उत्तर : अरे भाई! इसमें तेरे विकाररहित ज्ञायकस्वभाव का विज्ञापन होता है... इसलिये घबरा नहीं! अपने स्वभाव की महिमा सुनकर प्रसन्न हो! और इस स्वभाव को समझने के लक्ष से बीच में जो पुण्यबंध होता है, वह भी उच्च प्रकार का होता है; दूसरों को वैसा उच्च पुण्य भी नहीं होता। दूसरे प्रयत्नों में जो कषाय की मंदता करता है, उसकी अपेक्षा अधिक मंदता स्वभाव समझने का प्रयत्न करते-करते सहज ही हो जाती है; और यदि स्वभाव को समझकर पुण्य-पाप का विच्छेद करेगा, तब तो वीतरागता और केवलज्ञान हो जायेगा।—वह करने योग्य है। यदि पहले से ही पुण्य-पाप का कर्तृत्व स्वीकार करे और पुण्य-पाप से भिन्न ज्ञायकस्वभाव विकार का अकर्ता है, उसकी श्रद्धा भी न करे, तो वह विकार का अभाव करके वीतरागता कहाँ से लायेगा ?—इसलिये यह बात समझकर उसकी श्रद्धा करने योग्य है।—इसके अतिरिक्त कहीं जन्म-मरण का अंत नहीं आ सकता।

प्रश्न : अनादि से पुण्य-पाप करते आ रहे हैं, फिर भी वह कर्तव्य नहीं है ?

उत्तर : भाई रे! ज्ञायकस्वभाव को चूककर 'पुण्य-पाप, सो मैं'—ऐसा अज्ञान से माना है; इसलिये पुण्य-पाप का कर्ता होता है और इसीलिये अनादिकाल से संसार में भटक रहा है। अब वह संसार-परिभ्रमण कैसे दूर हो - उसकी यह बात है। पुण्य-पाप के विकार को न करे - ऐसा आत्मा का स्वभाव है; उसके बदले मिथ्या मान्यता में पुण्य-पाप का कर्तृत्व भासित हुआ है, उस मान्यता को बदल दे कि मैं तो ज्ञायक हूँ, श्रद्धा-आनन्दादि अनंत शक्ति का पिण्ड हूँ; क्षणिक विकार मैं नहीं हूँ, और न वह मेरा कर्तव्य है। ज्ञातृत्वभाव के अतिरिक्त जगत में अन्य कुछ मेरा

कर्तव्य नहीं है। आत्मा ज्ञानमात्र भाव के अतिरिक्त दूसरा क्या करेगा? यदि आत्मा पर का कार्य करता हो तो जगत का उद्धार करने के लिये सिद्ध भगवान ऊपर से क्यों नहीं उतरते?—उन्हें ऐसी वृत्ति ही नहीं उठती, क्योंकि वह आत्मा के स्वभाव में नहीं है। यदि सिद्धभगवान में नहीं है तो इस आत्मा में आया कहाँ से?—सिद्धभगवान में जो नहीं है, वह इस आत्मा के स्वभाव में भी नहीं है। बस! आत्मा का स्वभाव ही अकर्तृत्व है, इसलिये विकार से निवर्तन... निवर्तन... निवर्तन ही उसका स्वरूप है; स्वरूप में स्थिरता... स्थिरता... स्थिरता... ही आत्मा का स्वरूप है। सिद्धभगवान में जो कार्य नहीं है, वह इस आत्मा का भी कर्तव्य नहीं है। सिद्धभगवान के और अपने स्वभाव में अंतर मानता है तथा विकार को आत्मस्वभाव के साथ एकमेक करता है, वही संसार है। धर्मी को भी अस्थिरता में शुभवृत्ति उठती है, किंतु उसे श्रद्धा-ज्ञान वर्तता है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, यह मेरा कर्तव्य नहीं है, शुभराग भी हितकर नहीं है, मैं तो ज्ञायक ही हूँ और मेरा ज्ञायकतत्त्व इस विकारी वृत्ति का कर्ता नहीं है। राग को दूर करके अपने ज्ञायकस्वरूप में स्थिर होऊँ, वही मेरा कर्तव्य है। पुण्य का शुभराग भी मेरे धर्म का रक्षक नहीं किन्तु लुटेरा है। विकार स्वयं अविकारी को सहायक नहीं होता किन्तु बाधक होता है; इसलिये वह मेरा कर्तव्य नहीं है। इसप्रकार समस्त विकार के अकर्तारूप अपने ज्ञायकस्वभाव को जानकर धर्मी उसके सेवन द्वारा विकार से अत्यन्त निवृत्तिरूप मोक्षपद को प्राप्त होता है।

शंका : भगवान सर्वज्ञ कहते हैं, कि आत्मा में अकर्तृत्वशक्ति है, इसलिये विकार न करे, ऐसा उसका स्वभाव है; किंतु यदि भगवान ने अभी हममें कर्तापने का काल (-मिथ्यात्व का काल) देखा हो तो वह कैसे बदल सकता है?—तो फिर हे नाथ! क्या आपके उपदेश की निरर्थकता होती है?

समाधान : हे भाई! सर्वज्ञदेव ने कहा, वैसे आत्मा का अकर्तास्वभाव का जो निर्णय कर ले, उसे विभाव का कर्तापना रहता ही नहीं—ऐसा भी सर्वज्ञभगवान ने देखा है; इसलिये जिसकी दृष्टि में ज्ञायकस्वभावी आत्मा का अकर्तास्वरूप आया है, उसको कर्तापने का (-मिथ्यात्व का) काल भगवान ने नहीं देखा है; ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता से मिथ्यात्व का नाश करके उसकी

पर्याय में अकर्तापना प्रगट हुआ है और उसी को सर्वज्ञ का निर्णय हुआ है तथा सर्वज्ञदेव भी उस जीव की पर्याय में वैसा अकर्तृत्व ही देखते हैं। तू मिथ्यात्वादि के अकर्तारूप से परिणमित हो और सर्वज्ञभगवान तेरा कर्तापना देखें—ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये तू अपने स्वभावसन्मुख होकर पर्याय में विकार का अकर्तृत्व प्रगट कर—ऐसा भगवान के उपदेश का तात्पर्य है।

—यहाँ २१ वीं अकर्तृत्वशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

सम्यक्त्व के लिये किसकी शरण

सम्यक्त्व-सन्मुख जीव को अभी अपने भूतार्थस्वभाव के आश्रय से निर्विकल्प वेदन प्रगट नहीं हुआ है, वहाँ—'अहो! मेरा यह आत्मा एकाकार ज्ञायकस्वरूप है'—ऐसे बहुमान का विकल्प उठता है, किन्तु उस विकल्प की शरण नहीं है; शरण तो भूतार्थस्वभाव की ही है और उसी की शरण से सम्यग्दर्शन होता है। यदि विकल्प को शरणरूप माने तो उसके अवलम्बन से हटकर भूतार्थस्वभाव में कैसे आयेगा? तथा उसे सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा? .....इसलिये विकल्प की शरण नहीं है.....स्वभाव की ही शरण है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् भी ज्ञानी को विकल्प आते हैं, किन्तु वे उनकी शरण नहीं लेते।

(समयसार गाथा १३ के प्रवचन से)

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ

[२०]

अमूर्तत्त्व शक्ति

[इसी अंक में पीछे २१ नं० का लेख पढ़िये।]

समयसार में आचार्यदेव ने आत्मा को 'ज्ञायकमात्र' कहा है। ज्ञायकमात्र कहा उसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा में एक ज्ञानगुण ही है और दूसरे कोई गुण हैं ही नहीं; ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे भी अनंत गुण आत्मा में अनादि-अनंत विद्यमान हैं; परन्तु ज्ञानादि गुणों से विरुद्ध ऐसे रागादि विकार से और जड़ से आत्मस्वभाव की भिन्नता बतलाने के लिये उसे ज्ञानमात्र कहा है; और इसप्रकार ज्ञान को लक्षण बनाकर अनंत गुणों से अभेद आत्मा लक्षित कराया है। ज्ञान लक्षण से लक्षित होनेवाले आत्मा में कैसी-कैसी शक्तियाँ हैं उनका यह वर्णन चल रहा है। उन्नीसवीं 'परिणामशक्ति' का वर्णन हो चुका है, अब २० वीं 'अमूर्तत्व' नामक शक्ति का वर्णन करते हैं।

'कर्मबन्धन के अभाव से व्यक्त किये गये, सहज, स्पर्शादिरहित ऐसे आत्मप्रदेशोंरूप अमूर्तत्वशक्ति है।'—ज्ञानमात्र परिणमन में यह शक्ति भी साथ ही परिणमित होती है।

आत्मा असंख्यप्रदेशी अखंड वस्तु है। आत्मा के प्रदेश अमूर्त हैं, उनमें वर्ण, गंध, रस या स्पर्श नहीं है। असंख्य प्रदेशों में चैतन्य सुख-वीर्य और सत्ता से भरपूर तथा जड़ से रहित ऐसा अमूर्त आत्मा है। आत्मा के असंख्य प्रदेशों में काला-लाल-हरा-पीला या सफेद—ऐसा कोई वर्ण नहीं है; सुगंध या दुर्गंध—ऐसी कोई गंध भी आत्मा में नहीं है। आत्मा के असंख्य प्रदेश आनन्दरूपी रस से भरपूर हैं; किन्तु चरपरा-कड़वा-कसायला-खट्टा या मीठा—ऐसा कोई रस आत्मा में नहीं है; तथा रूखा; चिकना, ठंडा-गर्म, नर्म-कठोर या हलका-भारी—ऐसा कोई स्पर्श भी आत्मप्रदेशों में नहीं

है। आत्मा वर्ण-गंध-रस-स्पर्श से शून्य अमूर्तिक प्रदेशोंवाला है।—ऐसा अमूर्तिक आत्मा इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर नहीं होता किन्तु अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही अनुभव में आता है।

यहाँ आचार्यदेव ने आत्मप्रदेशों को 'कर्मबंध के अभाव से व्यक्त किये गये'—ऐसा कहकर निर्मल पर्याय को भी साथ मिलाकर अमूर्तत्वशक्ति का वर्णन किया। इसप्रकार प्रत्येक शक्ति के साथ उस-उस शक्ति का निर्मल परिणमन भी बतलाते जाते हैं। शक्ति को पहिचानकर उसका सेवन करने से उस शक्ति का निर्मल परिणमन होता है।

मूर्त कर्म और शरीर के सम्बन्ध में विद्यमान होने पर भी, आत्मा कहीं मूर्त नहीं हो गया है; इस समय भी आत्मा अमूर्त स्वभावी ही है। भाई! मूर्त ऐसे कर्म या शरीर तेरे अमूर्त आत्मा के साथ किंचित् एकमेक नहीं हो गये हैं। अमूर्त ऐसा तेरा चैतन्य आत्मा और मूर्त ऐसे जड़ कर्म—दोनों एकक्षेत्र में होने पर भी, स्वभाव से सर्वथा पृथक् हैं। सिद्धदशा में कर्म बंध का सर्वथा अभाव होने पर साक्षात् अमूर्तपना प्रगट हुआ; वह बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा तेरा अमूर्त स्वभाव है। सिद्ध भगवन्तों को जो अमूर्तपना प्रगट हुआ, वह कहाँ से प्रगट हुआ है?—पहले से ही आत्मा का अमूर्त स्वभाव था, वही प्रगट हुआ है। पहले आत्मा मूर्त था और फिर कर्म टलने से अमूर्त हुआ—ऐसा कुछ नहीं है। पर्याय में मूर्त के सम्बन्ध से आत्मा को मूर्त कहना, वह तो उपचार ही है, वास्तव में आत्मा कहीं मूर्त नहीं है। कर्मोपाधि की ओर न देखने से सहज आत्मप्रदेश अमूर्त हैं। आत्मा के अमूर्तपने का निर्णय करे तो मूर्तिक पदार्थों (शरीर-कर्मादि) के साथ एकत्वबुद्धि छूट जाये; और रागादि विकार यद्यपि अरूपी है, तथापि वह कर्म सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है; इसलिये जहाँ कर्म का सम्बन्ध तोड़ दिया, वहाँ विकार के साथ की एकत्वबुद्धि भी छूट जाती है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि मेरा ज्ञान जड़ में चला जाता है, अथवा तो जड़ का रस (गुलाबजामुन का स्वाद आदि) मेरे ज्ञान में आ जाता है; किन्तु वास्तव में कहीं अमूर्तिक ज्ञान, मूर्त पदार्थ में नहीं चला जाता; और मूर्त पदार्थ का रस कहीं अमूर्तिक ज्ञान में नहीं आ जाता; किन्तु उस स्वाद आदि को जानने पर वहीं राग करके उसमें अटक जाता है और ज्ञान के वास्तविक स्वाद को भूल जाता है—भिन्न ज्ञान को भूल जाता है। इसप्रकार अज्ञान से उसे जड़ के साथ एकत्वपने की बुद्धि हो गई है। ज्ञानी तो जानते हैं कि—हमारा अमूर्तिक ज्ञान, जड़ से पृथक् ही है और राग से भी पृथक् है। मेरा ज्ञान तो अतीन्द्रिय आनन्द के स्वादवाला है।

चेतन या जड़, अमूर्त या मूर्त—जैसी वस्तु हो, वैसे ही उसके गुण-पर्यायें होती हैं। आत्मा

अमूर्तिक वस्तु है; वह द्रव्य अमूर्त, उसके सब गुण अमूर्त तथा उसकी पर्यायें भी अमूर्त हैं। जड़-पुद्गल मूर्त हैं; वह द्रव्य मूर्त, उसके गुण मूर्त तथा उसकी पर्यायें (कर्म, शरीरादि) भी मूर्त हैं। इसप्रकार अमूर्तिक और मूर्तिक दोनों वस्तुओं के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव त्रिकाल भिन्न-भिन्न हैं। एकक्षेत्रावगाहीपना होने पर भी दोनों के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा के प्रदेश अमूर्तिक हैं और शरीर-कर्मादि के प्रदेश मूर्त हैं। आत्मा अमूर्तिक होने से उसका ज्ञान भी अमूर्त है; उसका सम्यग्दर्शन भी अमूर्त है, उसका आनन्द भी अमूर्त है—इसप्रकार अतीन्द्रियज्ञान का ही विषय होने का उसका स्वभाव है। ऐसे अमूर्त चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि करने पर जहाँ उसके अवलम्बन से मूर्त कर्मादि समस्त पदार्थों के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध टूटा, वहाँ साक्षात् अमूर्त ऐसी सिद्धदशा हुए बिना नहीं रहती।

प्रत्येक शक्ति का वर्णन करते हुए उस शक्ति की निर्मल पर्याय को तथा सम्पूर्ण आत्मद्रव्य को साथ ही साथ रखकर यह बात है। द्रव्य की दृष्टि से ही इन शक्तियों की यथार्थ पहिचान होती है; और इसप्रकार शक्ति की यथार्थ पहिचान होने से उसकी निर्मल पर्याय होती है।—इसप्रकार द्रव्य, गुण और निर्मलपर्याय की संधि है। कोई कहे कि द्रव्य-गुण को माना किन्तु निर्मल पर्याय नहीं हुई; तो ऐसा होता ही नहीं, उसने वास्तव में द्रव्य-गुण को माना ही नहीं है। निर्मल पर्याय के बिना द्रव्य-गुण को माना किसने?—माननेवाली तो पर्याय ही है। जो पर्याय, द्रव्योन्मुख होकर द्रव्य को मानती है, वह तो द्रव्य के साथ अभेद हुई निर्मल पर्याय ही है।

यहाँ अमूर्तत्वशक्ति में भी 'कर्मबंध के अभाव से व्यक्त किये गये...आत्मप्रदेश'—ऐसा कहकर शक्ति की निर्मल पर्याय बतलाई है; तथा पहले संसारदशा में कर्मबंध निमित्तरूप से है—ऐसा भी बतलाया है। आत्मा को संसार पर्याय है और उसके निमित्तरूप कर्म का सम्बन्ध भी है—उसका अस्वीकार करनेवाला उसके अभाव का प्रयत्न नहीं करेगा। यदि जीव अवस्था की अशुद्धता को तथा उसके निमित्त को यथावत् जान ले तथा अपनी शुद्धशक्ति को पहिचान ले, तभी शुद्धशक्ति का अवलम्बन करके पर्याय में से अशुद्धता दूर करके शुद्धता प्रगट करे। आत्मा को कर्मों का सम्बन्ध तो कृत्रिम-उपाधिरूप है, और कर्मबंध के अभाव से व्यक्त हुए आत्मप्रदेश सहज स्वाभाविक हैं। ऐसे सहज आत्मप्रदेशोंरूप अमूर्तिकपना है—वह आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है; इसलिये आत्मा त्रिकाल वर्ण-गंध-रस-स्पर्शरहित है।

हे भाई! यह शरीर तो जड़-मूर्तिक है, वर्ण-गंध-रस-स्पर्शवाला है, वह तेरा नहीं है; तू तो

चैतन्यस्वरूप-अमूर्त है; वर्ण-गंध-रस-स्पर्शरहित है। तेरे अमूर्त आत्मप्रदेशों में शरीर-मन-वाणी अथवा राग-द्वेष नहीं भरे हैं, किन्तु ज्ञान-श्रद्धा-सुख-वीर्य आदि अनंत शक्तियाँ भरी हैं। जिसप्रकार गुड़ में मिठास भरी है किन्तु कहीं उसमें कड़वाहट नहीं भरी है; उसीप्रकार आत्मा में ज्ञानादि अनंत शक्तियाँ भरी हैं, किन्तु विकार नहीं भरा है। विकार तो ऊपरी भाव है, अंतर के गहरे स्वभाव में विकार नहीं है। आत्मा की स्वभावशक्ति को पकड़कर उसके आनन्द के अनुभव में लीन रहने से आहार की ओर वृत्ति ही न जाये, उसका नाम उपवास है और ऐसा तप, वह धर्म है। 'आत्मा आहार लेता है—वह उसने छोड़ दिया, उसके नाम उपवास'—ऐसा अज्ञानी मानते हैं। किन्तु भाई! आत्मा तो अमूर्त है, वह मूर्तिक आहार-को ग्रहण नहीं करता और न छोड़ता ही है। आत्मा के कहीं हाथ-पैर नहीं हैं कि वह मूर्तिक वस्तु को ग्रहण करे अथवा छोड़े!

आत्मा को वर्तमान पर्याय से देखने पर उसे कर्म का सम्बन्ध तथा रागादि भावबंध है; किन्तु वह वास्तव में आत्मा नहीं है, क्योंकि उसके आश्रय से आत्मा का हित नहीं होता। आत्मा तो अपनी त्रिकाली शक्तियों का पिण्ड है, उसके आश्रय से विकार की उत्पत्ति नहीं होती। आत्मा की कोई शक्ति विकार की उत्पादक नहीं है।

प्रश्न : यदि आत्मा की कोई शक्ति विकार की उत्पादक नहीं है तो विकार क्यों उत्पन्न होता है?

उत्तर : यदि आत्मा की त्रिकाली शक्ति, विकार की उत्पादक हो तो विकार कभी दूर हो ही नहीं सकता परन्तु शक्ति तो त्रिकाल स्थायी रहकर विकार दूर हो जाता है, इसलिये विकार वास्तव में शक्ति का परिणमन नहीं है। शक्ति का आश्रय न करके परद्रव्य का आश्रय किया; इसलिये विकार की उत्पत्ति हुई, इसलिये उस समय का पराश्रयभाव स्वयं ही विकार का उत्पादक है। शुद्ध उपादानरूप शक्ति के आश्रय से विकार नहीं होता; इसलिये शक्ति, विकार की उत्पादक नहीं है।—इसप्रकार जो आत्मा के स्वभाव के साथ एकता करे, उसी को (निर्मल पर्याय को ही) यहाँ आत्मा की पर्याय माना है, जो पर्याय, आत्मा के साथ एकता न करे उसे (—मलिन पर्याय को) वास्तव में आत्मा की पर्याय मानते ही नहीं। यद्यपि वह होती है आत्मा में; किन्तु आत्मा के शुद्ध स्वभाव की मुख्यता में वह अभाव-समान ही है।

अपनी पर्याय में अशुद्धता है, उसे यदि स्वीकार ही न करे तो दूर करने का उद्यम कैसे करेगा? और यदि उतना ही अपने को मान ले तो भी उसे टालने का उद्यम कहाँ से करेगा? मेरे त्रिकाली स्वभाव में यह अशुद्धता नहीं है—ऐसा जानकर शुद्ध स्वभाव का आदर करने से अशुद्धता

का अभाव होकर शुद्ध सिद्धपद प्रगट होता है। अभी तो अमूर्त आत्मा की श्रद्धा करने से जो भी इन्कार करे और मूर्त कर्मवाला ही आत्मा को माने तो उसे सिद्धपद कहाँ से प्रगट होगा?

आत्मा की पर्याय में विकार है, कर्म का सम्बन्ध है—उसका स्वीकार, वह व्यवहार है; और आत्मा त्रिकाली शक्ति से परिपूर्ण है, शुद्ध है, उसमें विकार या बंध नहीं है—ऐसे आत्मस्वभाव का स्वीकार, सो निश्चय है। वहाँ जो जीव अकेले व्यवहार का ही स्वीकार करके उसके आश्रय में रुकता है, वह तो मिथ्यादृष्टि-अधर्मी है। जो जीव शुद्ध आत्मस्वभाव को दृष्टि में लेकर उसका आश्रय करता है, वह सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा है; उसे शुद्ध द्रव्य के आश्रय से पर्याय भी निर्मल होती जाती है और कर्म के साथ का निमित्त सम्बन्ध छूटता जाता है।

मूर्त कर्म के अभावरूप अमूर्तशक्ति आत्मा में त्रिकाल है, किन्तु कर्म के साथ सम्बन्ध बना रखे, ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है। कर्म के साथ सम्बन्ध बाँधे—ऐसी योग्यता एक समयपर्यंत विकार की है; किन्तु आत्मा की शुद्ध शक्ति की दृष्टि में तो उसका भी अभाव है।

आत्मा अमूर्त धर्मवाला है, इसलिये किसी मूर्त की (शरीरादि की) सहायता से उसे धर्म हो—ऐसा वह नहीं है। इन्द्रियाँ भी मूर्त हैं, वे अमूर्त आत्मा के धर्म में सहायक नहीं है; आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव अमूर्त-अतीन्द्रिय है; उस स्वभाव के अवलम्बन से ही धर्म होता है। आत्मा में ऐसी निर्मल शक्तियाँ तो त्रिकाल हैं ही; किन्तु स्वयं अपनी शक्ति का सेवन नहीं करता, इसलिये वह शक्ति उछलती नहीं है—निर्मलतारूप परिणमित नहीं होती। पर्याय को अंतर्मुख करके यदि शक्ति का सेवन करे तो वह शक्ति पर्याय में भी निर्मलतारूप से उछले—उसका नाम धर्म है। अपनी वर्तमान पर्याय को स्वभावोन्मुख न करके, परोन्मुख करे तो वह मलिन होती है अर्थात् अधर्म होती है; और अपनी वर्तमान पर्याय को अपने त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख करने से वह निर्मल होती है और मूर्त कर्म के साथ का सम्बन्ध टूटकर साक्षात् सिद्धदशा प्रगट होती है; वहाँ आत्मा की अमूर्त शक्ति शुद्धरूप से परिणमित हो जाती है। ऐसा अनंत शक्तिवान ज्ञानस्वभावी आत्मा की श्रद्धा का फल है।

—यहाँ २०वीं अमूर्तत्व शक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

आत्मा की प्रभुता बतलाकर संत उत्साहित करते हैं

अरे जीव! तू डर मत... अकुला मत...

उल्लसित होकर अपनी शक्ति को उछाल!

सिद्ध और अरिहंत भगवान में जैसी सर्वज्ञता, जैसी प्रभुता, जैसा अतीन्द्रिय आनन्द और जैसा आत्मवीर्य है, वैसी ही सर्वज्ञता, प्रभुता, आनन्द तथा वीर्य की शक्ति इस आत्मा में भी विद्यमान है—वह यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं।

भाई! एक बार हर्षित तो हो कि अहो! मेरा आत्मा ऐसा!! ज्ञान-आनन्द की परिपूर्ण शक्ति मेरे आत्मा में विद्यमान है, मेरे आत्मा की शक्ति नष्ट नहीं हुई। 'अरे रे! मैं दब गया... विकारी हो गया... अब कैसे मेरा मस्तक ऊँचा होगा....!'—इस प्रकार डर मत... अकुला मत.... हताश (हतोत्साह) न हो.... एक बार स्वभाव का हर्ष ला... उत्साह ला.... उसकी महिमा लाकर अपनी शक्ति को उछाल!

अहो! आनन्द का समुद्र अपने अंतर में उछल रहा है, उसे तो जीव देखता नहीं है और तिनके के समान तुच्छ विकार को ही देखता है! अरे जीवो! इधर अंतर में दृष्टि डालकर समुद्र को देखो... चैतन्य समुद्र में डुबकी मारो!!

आनन्द का सागर अंतर में है, उसे भूलकर अज्ञानी तो बाह्य में क्षणिक पुण्य का वैभव देखता है और उसी में सुख मानकर मूर्च्छित हो जाता है; तथा किंचित् प्रतिकूलता देखे, वहाँ दुःख में मूर्च्छित हो जाता है; किन्तु परम महिमावंत अपने आनन्दस्वभाव को नहीं देखता। ज्ञानी तो जानता है कि मैं स्वयं ही आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण हूँ; कहीं बाह्य में मेरा आनन्द नहीं है, अथवा अपने आनन्द के लिये किसी बाह्य पदार्थ की मुझे आवश्यकता नहीं है। ऐसा भान होने से ज्ञानी बाह्य में—पुण्य-पाप के वैभव में मूर्च्छित नहीं होते या उलझते नहीं हैं। पुण्य का वैभव आ मिले तो वहाँ ज्ञानी कहते हैं कि अरे पुण्य! रहने दे... अब हमें ऊपरी ठाटबाट नहीं देखना है... हम तो सादि-अनंत अपने आनन्द को ही देखना चाहते हैं। अपने आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी हमें प्रिय नहीं है। हमारा आनन्द अपने आत्मा में ही है; इस पुण्य के ठाट में कहीं हमारा आनन्द नहीं है। पुण्य का ठाट हमें आनन्द देने में समर्थ नहीं है, और प्रतिकूलता के

समूह हमारे उस आनन्द को लूट नहीं सकते।—ऐसी ज्ञानी की अंतर कथा होती है। उसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अपने आनन्द का वेदन हुआ है। आत्मा का ऐसा अचिंत्य स्वभाव है कि वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ही ज्ञात होता है; 'स्वयं प्रत्यक्ष' हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। स्वयं प्रत्यक्ष स्वभाव की पूर्णता में परोक्षपना अथवा क्रम रहे, ऐसा स्वभाव नहीं है, तथा स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा में विकल्प-राग-विकार या निमित्त की उपाधि प्रविष्ट हो जाये—ऐसा भी नहीं है, अर्थात् व्यवहार के अवलम्बन से आत्मा का संवेदन हो, ऐसा नहीं होता। बीच में पर की ओर राग की ओट निकाल कर, अपने चिन्मात्र एकाकार स्वभाव का ही सीधा स्पर्श करने से आत्मा का स्वसंवेदन होता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा का वेदन नहीं होता।

अहो! ऐसा स्वसंवेदन स्वभाव चैतन्य भगवान आत्मा स्वयं विराजमान है, किन्तु अपनी ओर न देखकर विकार की ओर ही देखता है; इसलिये विकार का ही वेदन होता है। यदि अंतर में अपने चिदानन्दस्वरूप को देखे तो आनन्द का वेदन हो और विकार का वेदन दूर हो जाय।

संत, आत्मा की ऐसी प्रगट महिमा बतलाते हैं; इस अचिन्त्य महिमा को लक्ष में लेकर एक बार भी यदि अंतर से उछलकर उसका बहुमान करे तो संसार से बेड़ा पार हो जाये। चैतन्यस्वभाव का बहुमान करने से अल्पकाल में ही उसका स्वसंवेदन होकर मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी। वस्तु में परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द की शक्ति भरी है, उसे पहिचानकर, उस ओर उन्मुख होकर वह पर्याय में प्रगट करना है। अरे जीव! एक बार अन्य सब भूल जा, और अपनी निज शक्ति को सँभाल! पर्याय में संसार है, उसे भूल जा और मुख्य स्वभावरूप निज शक्ति की ओर देख, तो उसमें संसार है ही नहीं। चैतन्यशक्ति में संसार था ही नहीं, है ही नहीं, और होगा ही नहीं।—लो यह है मोक्ष—ऐसे स्वभाव की दृष्टि से आत्मा मुक्त ही है। इसलिये एक बार अन्य सब लक्ष में से छोड़ दे और ऐसे चिदानन्दस्वभाव में लक्ष को एकाग्र कर तो तुझे मोक्ष की शंका नहीं रहेगी; अल्पकाल में अवश्य मुक्ति प्राप्त हो जायेगी।

[४७ शक्तियों पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

लक्षपूर्वक पक्ष

ज्ञानस्वरूपी आत्मा अकेला शांत निर्दोष है, उसकी दृष्टि बिना अन्य लाख प्रकार से भी कल्याण नहीं होता।

जिससे कल्याण होता है—ऐसे अपने आत्मस्वभाव का लक्ष करके उसका पक्ष जीव ने कभी किया नहीं है... और जिसके आश्रय से कल्याण नहीं है—ऐसे रागादि व्यवहार का पक्ष कभी छोड़ा नहीं है।

इसलिये संत कहते हैं कि—

हे भव्य! यदि तुझे अपना हित करना हो तो उस व्यवहार का पक्ष छोड़ दे... और अपने आत्म-स्वभाव को लक्ष में लेकर उसका पक्ष कर... उसके आश्रय से तेरा कल्याण होगा।

❀❀❀ ❀❀❀ ❀❀❀

आत्मा की महिमा सुनते ही आत्मार्थी के अंतर में उतर जाती है कि अहो! मुझे ऐसी चैतन्य वस्तु ही अवलंबन करने योग्य है..... अंतर में ऐसा लक्ष बँध जाये—अर्थात् ज्ञान के निर्णय में एक ही प्रकार आ जाये कि अहा! यह एक ही मेरा अवलंबन है। जहाँ अंतरंग-लक्षपूर्वक ऐसा पक्ष हो, वहाँ प्रयत्न की दिशा स्वभाव की ओर ढले बिना नहीं रहती.... अर्थात् आत्मा के आश्रय से अल्प काल में उसे सम्यग्दर्शन होता ही है।

[—समयसार गाथा ११ के प्रवचन से]

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२॥)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	।)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७-८-१० वर्ष	३।।।)
द्वितीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ
लेने वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।